

निर्णयेन रतानीन्द्रियाणि । संशयविपर्ययावस्थायां निर्णयात्मकरतेरभावात्तत्रात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, रूढिबललाभादुभयत्र प्रवृत्त्यविरोधात् । अथवा स्ववृत्तिरतानीन्द्रियाणि । संशयविपर्ययनिर्णयादौ वर्तनं वृत्तिः, तस्यां स्ववृत्तौ रतानीन्द्रियाणि । निर्व्यापारावस्थायां नेन्द्रियव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात् । अथवा स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि । अर्यत इत्यर्थः, स्वेऽर्थे च निरतानीन्द्रियाणि, निरवद्यत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति । अथवा इन्दनादाधिपत्यादिन्द्रियाणि१ (१ यदिन्द्रस्यात्मनो लिंगं यदि वेन्द्रेण कर्मणा । सृष्टं जुष्टं तथा दृष्टं दत्तं वेति तदिन्द्रियम् ॥ गो. जी., जी. प्र., टी. १६४. इंदो जीवो सव्वोवलद्धिभोगपरमेसरत्तणओ । सोत्ताइभेयमिंदियमिह तल्लिंगाइ भावाओ ॥ वि. भा. ३५६०. 'इदि' परमैश्वर्ये 'इदितो नुम्' इन्दनादिन्द्र आत्मा (जीवः) सर्वविषयोपलब्धि- (ज्ञान)-भोगलक्षणपरमैश्वर्ययोगात् तस्य लिङ्गं चिन्हमविनाभाविलिङ्गसत्तासूचनात् प्रदर्शनादुपलम्भनाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । अभि. रा. को (इन्द्रिय)) । उक्तं च ---

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहं ति मण्णंता ।

ईसंति एकमेकं इंदा इव इंदिए जाणर (२ प्रा. पं. १.६५. गो. जी. १६४. यथा ग्रैवेयकादिजाता अहमिन्द्रदेवा अहमहमिति स्वामिभृत्यादिविशेषशून्यं मन्यमाना एकैके भूत्वा आज्ञादिभिरपरतन्त्राः सन्तः ईशते प्रभवन्ति स्वामिभावं श्रयन्ति, तथा स्पर्शनादिन्द्रियाण्यपि स्पर्शादिस्वस्वविषयेषु ज्ञानमुत्पादयितुमीशते, परानपेक्षया प्रभवन्ति, ततः कारणादहमिन्द्रा इव इन्द्रियाणि इति । जी. प्र. टी.) ॥८५॥

शंका -- संशय और विपर्ययरूप ज्ञानकी अवस्थामें निर्णयात्मक रति अर्थात् प्रवृत्तिका अभाव होनेसे उस अवस्थामें आत्माको अनिन्द्रियपनेकी प्राप्ति हो जावेगी?

समाधान --- नहीं, क्योंकि, रूढिके बलसे निर्णयात्मक और अनिर्णयात्मक इन दोनों अवस्थाओंमें इन्द्रिय शब्दकी प्रवृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अथवा, अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं । इसका खुलासा इस प्रकार है-- संशय और विपर्ययज्ञानसे निर्णय आदिके करनेमें जो प्रवृत्ति होती है उसे वृत्ति कहते हैं । उस अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं ।

शंका --- जब इन्द्रियाँ अपने विषयमें व्यापार नहीं करती हैं तब उन्हें व्यापाररहित अवस्थामें इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी?

समाधान --- ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये हैं कि रूढिके बलसे ऐसी अवस्थामें भी इन्द्रिय-व्यवहार होता है।

अथवा, जो अपने अर्थमें निरत हैं उन्हें इन्द्रियों कहते। 'अर्थते' अर्थात् जो निश्चित किया जाय उसे अर्थ कहते हैं। उस अपने विषयरूप अर्थमें जो व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रियों कहते हैं। इन्द्रियोंका यह लक्षण निर्दोष होनेके कारण इस विषयमें अधिक वक्तव्य कुच्छ भी नहीं है। अर्थात् इन्द्रियोंका यह लक्षण इतना स्पष्ट है कि पूर्वोक्त दोषोंको यहाँ अवकाश ही नहीं है।

अथवा, अपने अपने विषयका स्वतन्त्र आधिपत्य करनेसे इन्द्रियाँ कहलाती हैं। कहा भी है ---
जिस प्रकार ग्रैवेयकादिमें उत्पन्न हुए अहमिन्द्र देव मैं सेवक हूँ अथवा स्वामी हूँ इत्यादि

चीयते इति कायः। नेष्टकादिचयेन व्यभिचारः, पृथिव्यादिकर्मभिरिति विशेषणात्।
औदारिकादिकर्मभिः पुद्गलविपाकिभिश्चीयत इति चेन्न, पृथिव्यादिकर्मणां सहकारिणामभावे
ततश्चयनानुपपत्तेः। कर्मणशरीरस्थानां जीवानां पृथिव्यादिकर्मभिश्चितनोकर्मद्गलाभावादकायत्वं
स्यादिति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रापि सत्त्वतस्तद्व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात्। अथवा
आत्मप्रवृत्त्युपचितपद्गल-

विशेषभावसे रहित अपनेको मानते हुए एक एक होकर अर्थात् कोई किसीकी आज्ञा आदिके पराधीन न होते हुए स्वयं स्वामीपनेको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी अपने अपने स्पर्शादिक विषयका ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं और दूसरी इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित हैं, अतएव अहन्मिन्द्रोंकी तरह इन्द्रियाँ जानना चाहिये।

जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं। यहां पर जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं ऐसी व्याप्ती बना लेने पर कायको छोडकर ईट आदिके संचयरूप विपक्षमें भी यह व्याप्ती घटित हो जाती है, अतएव व्यभिचार दोष आता है। ऐसी शंका मनमें निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इस तरह ईट आदिके संचयके साथ व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, पृथिवी आदि कर्मोंके उदयसे इतना विशेषण जोडकर ही, 'जो संचित किया जाता है' उसे काय कहते हैं ऐसी व्याख्या की गई है।

शंका -- पुद्गलविपाकी औदारिक आदि कर्मोंके उदयसे जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं, कायकी ऐसी व्याख्या क्यों नहीं की गई है?

समाधान -- ऐसा नहीं है, क्योंकि सहकारीरूप पृथिवी आदि नामकर्मके अभाव रहने पर केवल औदारिक आदि नामकर्मके उदयसे नोकर्मवर्गणाओंका संचय नहीं हो सकता है।

शंका -- कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके पृथिवी आदि कर्मोंके द्वारा संचित हुए नोकर्मपुद्गलका अभाव होनेसे अकायपना प्राप्त हो जायगा?

समाधान -- ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, नोकर्मरूप पुद्गलोंके संचयके कारणरूप नामकर्मका सत्त्व कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें भी पाया जाता है, इसलिये उस अवस्थामें भी कायपनेका व्यवहार बन जाता है। अथवा, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं।

शंका -- कायका इस प्रकारका लक्षण करने पर भी पहले जो दोष दे आये हैं, वह दूर नहीं होता है। अर्थात् इस तरह भी जीवके कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें अकायपनेकी प्राप्ति होती है।

पिण्डः कायः । अत्रापि स दोषो न निवार्यत इति चेन्न, आत्मप्रवृत्त्युपचितकर्मपुद्गलपिण्डस्य तत्र सत्त्वात् ।

आत्मप्रवृत्त्युपचितनोकर्मपुद्गलपिण्डस्य तत्रासत्त्वान्न तस्य काय-व्यपदेश इति चेन्न,

तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रास्तित्वतस्तस्य तद्व्यपदेशसिद्धेः । उक्तं च-

अप्पप्पवृत्ति-संचिद-पोग्गल-पिंडं वियाण कायो ति ।

सो जिणमदमिह भणिओ पुढ्विक्कायादिछब्भेदो१ (१ जाई अविणाभावी तसथावरउदयजो हवे काओ । सो जिणमदमिह भणिओ पुढ्वीकायादिछब्भेओ ॥ प्रा. पं. १, ७५। गो. जी. १८१.) ॥८६॥

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेण्हऊण कावोडिं ।

एमेव वहइ जीवो कम्म-भरं काय-कावोडिं २ (२ प्रा.पं.१, ७६;गो.जी.२०२. लोके यथा भारवहः पुरुषः कावटिकं भारं गृहीत्वा विवक्षितस्थानं वहति नयति प्रापयति तथा संसारिजीवः औदारिकादिनोकर्मशरीरक्षिप्तज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभारं गृहीत्वा नानायोनस्थानानि वहति ।) ॥८७॥

युज्यत इति योगः । न युज्यमानपटादिना व्यभिचारः, तंस्यानात्मधर्मत्वात् ।

समाधान -- ऐसा नहीं है, क्योंकि, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए कर्मरूप पुद्गलपिण्डका कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें सद्भाव पाया जाता है। अर्थात् जिससमय आत्मा कार्मणकाययोगकी अवस्थामें होता है

उस समय उसके ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंका सद्भाव रहता ही है, इसलिये इस अपेक्षासे उसके कायपना बन जाता है।

शंका -- कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचयको प्राप्त हुए नोकर्म पुद्गलपिण्डका असत्त्व होनेके कारण कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह व्यपदेश नहीं बन सकता है?

समाधान -- नोकर्म पुद्गलपिण्डके संचयके कारणभूत कर्मका कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें सद्भाव होनेसे कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह संज्ञा बन जाती है। कहा भी है--

योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचयको प्राप्त हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय समझना चाहिये। वह काय जिनमतमें पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारका कहा गया है। और वे पृथिवी आदि छह काय, त्रसकाय और स्थावरकायके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार भारको ढोनेवाला पुरुष कावडको लेकर भारको ढोता है, उसी प्रकार यह जीव शरीररूपी कावडको लेकर कर्मरूपी भारको ढोता है ॥ ८७ ॥

जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं। यहां पर जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं ऐसी व्याप्ति करने पर संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिकसे व्यभिचार हो जायगा। इस प्रकारकी शंकाको मनमें निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इस तरह संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिकसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिक आत्माके धर्म नहीं हैं। जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं। इस प्रकारकी व्याप्तिमें

न कषायेण व्यभिचारः, तस्य कर्मादानहेतुत्वाभावात्। अथवात्मप्रवृत्तेः कर्मादाननिबन्धनवीर्योत्पादो योगः।
अथवात्मप्रदेशानां सङ्कोचविकोचो योगः। उक्तं च -

मणसा वचसा काएण चावि जुत्तस्स विरिय-परिणामो।

जीवस्स प्पणिओओ जोगो ति जिणेहि णिट्ठो १(१). प्रा. पं. १,५५।

पुग्गलविवाइदेहोदएण मणवयणकायजुत्तस्स। जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो। गो.जी. २१६.

मणसा वयसा. काएण वावि जुत्तस्स विरियपरिणामो । जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसन्नो जिणक्खाओ ।
। तेओजोगेण जहा रत्तत्ताई घडस्स परिणामो । जीवकरणप्पओए विरियमवि तहप्पपरिणामो ।। जोगो
विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चेड्ढा । सत्ती सामत्थं ति य जोगस्स हवंति पज्जाया ।। स्था. सू.
पृ.१०१.) ।। ८८ ।।

वेद्यत इति वेदः । अष्टकर्मादयस्य वेदव्यपदेशः प्राप्नोति, वेदत्वं २ (२ मु वेद्यत्वं ।) प्रत्यविशेषादिति
चेन्न, 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इति विशेषावगते: 'रुढितन्त्रा व्युत्पत्तिः' इति वा ।
अथवात्मप्रवृत्ते: सम्मोहोत्पादो वेदः । अत्रापि

आत्मधर्मकी मुख्यता होनेसे यद्यपि संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिकका निराकरण हो जायगा फिर भी
कषायका निराकरण नहीं हो सकता है, क्योंकि, कषाय आत्माका धर्म है और संयोगको भी प्राप्त होता है ।
इसलिये जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं यह व्याप्ति कषायमें भी घटित होती है, अतएव
कषायके साथ व्यभिचार दोष आ जाता है । ऐसी शंकाको मनमें धारण करके आचार्य कहते हैं कि इस तरह
कषायके साथ भी व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, कषाय कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण नहीं पडती है ।
अथवा, प्रदेशपरिस्पन्दरूप आत्माकी प्रवृत्तिके निमित्तसे कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत वीर्यकी उत्पत्तिको
योग कहते हैं । अथवा, आत्माके प्रदेशोंके संकोच और विस्ताररूप होनेको योग कहते हैं । कहा भी है --

मन, वचन और कायके निमित्तसे होनेवाली क्रियासे युक्त आत्माके जो वीर्यविशेष उत्पन्न होता है
उसे योग कहते हैं । अथवा, जीवके प्रणियोग अर्थात् परिस्पन्दरूप क्रियाको योग कहते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने
कथन किया है ।। ८८ ।।

जो वेदा जाय, अनुभव किया जाय उसे वेद कहते हैं ।

शंका -- वेदका इस प्रकारका लक्षण करने पर आठ कर्मोंके उदयको भी वेद संज्ञा प्राप्त हो
जायगी, क्योंकि, वेदनपनेकी अपेक्षा वेद और आठ कर्मोंका उदय ये दोनों ही समान हैं । जिस तरह वेद
वेदनरूप है, उसी तरह ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका उदय भी वेदनरूप है?

समाधान -- ऐसा नहीं समझाना चाहिये, क्योंकि सामान्यरूपसे की गई कोई भी प्ररूपणा अपने
विशेषोंमे पाई जाती है, इसलिये विशेषका ज्ञान हो जाता है । अथवा, रौढिक शब्दोंकी व्युत्पत्ति रुढिके
आधीन होती है, इसलिए वेद शब्द पुरुषवेदादिमें रुढ होनेके कारण 'वेद्यते' अर्थात् जो वेदा जाय इस
व्युत्पत्तिसे वेदका ही ग्रहण होता है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके उदयका नहीं ।

मोहोदयस्य सकलस्य वेदव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, अत्रापि रुढिवशाद्धेदनाम्नां कर्मणामुदयस्यैव वेदव्यपदेशात् । अथवात्मप्रवृत्तेर्मेथुनसम्मोहोत्पादो वेदः । उक्तं च --

वेदस्सुदीरणाए बालत्तं पुण णियच्छदे बहुसो ।

थी-पुं-णवुंसए वि य वेए त्ति तओ हवइ वेओ ॥८९॥

सुखदुःखबहुसस्यकर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः । ‘कषन्तीति कषायाः’ इति किमिति न व्युत्पादितः कषायशब्दश्चेन्न, ततः संशयोत्पत्तेः प्रतिपत्तिगौरवभयाच्च । उक्तं च--

अथवा, आत्मप्रवृत्तिमें सम्मोहके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं ।

शंका-- इस प्रकारके लक्षणके करने पर भी संपूर्ण मोहके उदयको वेद संज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, वेदकी तरह शेष मोह भी व्यामोहको उत्पन्न करता है?

समाधान-- ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, इस व्युत्पत्तिमें भी रुढिके बलसे वेदनामक कर्मोंके उदयको ही वेद संज्ञा प्राप्त है ।

अथवा, आत्मप्रवृत्तिमें स्त्री-पुरुषविषयक मैथुनरूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं । कहा भी है--

वेदकर्मकी उदीरणासे यह जीव नाना प्रकारके बालभाव अर्थात् चांचल्यको प्राप्त होता है और स्त्रीभाव, पुरुषभाव तथा नपुंसकभावका वेदन करता है, इसलिये उस वेदकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाले भावको वेद कहते हैं ॥८९॥

सुख, दुःखरूपी नाना प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्षण करती हैं, अर्थात् फल उत्पन्न करनेके योग्य करती हैं, उन्हें कषाय कहते हैं ।

शंका -- यहां पर कषाय शब्दकी, ‘कषन्तीति कषायाः’ अर्थात् जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं, इस प्रकारकी व्युत्पत्ति क्यों नहीं की?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, ‘जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं’ कषाय शब्दकी इस प्रकारकी व्युत्पत्ति करने पर कषनेवाले किसी भी पदार्थको कषाय माना जायगा । अतः कषायोंके स्वरूप समझनेमें संशय उत्पन्न हो सकता है, इसलिये जो कसें उन्हें कषाय कहते हैं इस प्रकारकी व्युत्पत्ति नहीं की गई । तथा,

उक्त व्युत्पत्तिसे कषायोंके स्वरूपके समझनेमें कठिनता जायगी, इस भितीसे भी 'जो कसैं उन्हें कषाय कहते हैं', कषाय शब्दकी इस प्रकारकी व्युत्पत्ति नहीं की गई। कहा भी है--

१. प्रा.पं. १,१०१। पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे। णामोदयेण दब्बे पाएण समा कहिं विसमा।। वेदस्सुदीरण्णए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो। संमोहेण ण जाणदि जीवो हि गुणं व दोसं वा।। गो.जी. २७१, २७२.

सुह-दुक्ख-सुबहु-सस्सं कम्म-क्खेत्तं कसेदि जीवस्स।

संसार-दूर-मेरं तेण कसायो त्ति णं वेंति१ (१ प्रा. पं. १, १००। गो.जी. २८२. अत्र मिथ्यादर्शनादिजीवसंक्लेशपरिणामरूपं बीजं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदकर्मबधलक्षणे क्षेत्रे उत्त्वा क्रोधादिकषायनामा जीवस्य भृत्यःपुनरपि कालादिसामग्रीलब्धिसमुत्पन्नसुखदुःखलक्षणबहुविधान्यानि अनाद्यनिधनसंसारदूरसीमानि यथा सुफलितानि भवन्ति तथा उपर्युपरि कृषति इति 'कृषि विलेखने' इत्यस्य धातोर्विलेखनार्थं गृहीत्वा निरुक्तिपूर्वकं कषायशब्दस्यार्थनिरूपणं आचार्येण कृतमिति। जी. प्र. टी, कष्यतेऽस्मिन् प्राणी पुनः पुनरावृत्तिभावमनुभवति कषोपलकष्यमाणकनकवदिति। कषः संसारः तस्मिन्नासमन्तादयन्ते गच्छन्त्येभिरसुमन्त इति कषायाः। यद्वा कषाया इव कषाया, यथा हि तुबरिकादिकषायकलुषिते वाससि मज्जिष्ठादिरागः शिलष्यति चिरं चावतिष्ठिते तथैतत्कलुषिते आत्मनि कर्म संबध्यते चिरं स्थितिकं च जायते, तदायत्वात्तत्स्थितेः। अभि.रा.को. (कसाय) ॥१०॥

भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्। मिथ्यादृष्टीनां कथं भूतार्थप्रकाशकमिति चेन्न, सम्यङ्मिथ्यादृष्टीनां प्रकाशस्य समानतोपलम्भात्। कथं पुनस्तेऽज्ञानिन इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयात्प्रतिभासितेऽपि वस्तुनि संशयविपर्ययानध्यवसायानिवृत्तितस्तेषामज्ञानितोक्तेः। एवं सति दर्शनावस्थायां ज्ञानाभावः स्यादिति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात्।

सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्षण करती हैं उन्हें कषाय कहते हैं ॥१०॥

सत्यार्थकाप्रकाश करनेवाली शक्तिविशेषको ज्ञान कहते हैं।

शंका -- मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान भूतार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है?

समाधान -- ऐसा नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टियोंके प्रकाशमें समानता पाई जाती है।

शंका -- यदि दोनोंके प्रकाशमें समानता पाई जाती है, तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकते हैं?

समाधान -- यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, मिथ्यात्वकर्मके उदयसे वस्तुके प्रतिभासित होनेपर भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसायकी निवृत्ति नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टियोंको भासित होनेपर भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसायकी निवृत्ति नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी कहा है।

शंका -- इस तरह मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी मानने पर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव प्राप्त हो जायगा?

समाधान -- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानोपयोगका अभाव इष्ट ही है।

शंका -- यदि ऐसा है तो इस कथनका कालानुयोगमें आये हुए 'एगजीवं पडुच्च

कालसूत्रेण' सह विरोधः किन्न भवेदिति चेन्न, तत्र क्षयोपशमस्य प्राधान्यात्। विपर्ययः कथं भूतार्थप्रकाशक इति चेन्न, चन्द्रमस्युपलभ्यमानद्वित्वस्यान्यत्र सत्वतस्तस्य भूतत्वोपपत्तेः। अथवा सद्भावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम्। एतेन संशयविपर्ययानध्यवसायावस्थासु ज्ञानाभावः प्रतिपादितः स्यात् शुध्दनयविवक्षायां तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम्। ततो मिथ्यादृष्टयो न ज्ञानिन इति सिद्धं द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम्। अभिन्नस्य कथं करणत्वमिति चेन्न, सर्वथा भेदोभेदे च

अणादिओ अपज्जवसिदो' इत्यादि सूत्रके साथ विरोध क्यों नहीं प्राप्त हो जायेगा? अर्थात् कालानुयोगमें ज्ञानका काल एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्त आदि आया है। और यहाँ पर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव बतलाया है, इसलिये यह कथन परस्पर विरुद्ध है। अतः दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव कैसे हो सकता है, क्योंकि, इस कथनका कालानुयोगके सूत्रसे विरोध आता है?

समाधान -- ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, कालानुयोगमें जो ज्ञानकी अपेक्षा कालका कथन किया है, वहां क्षयोपशमकी प्रधानता है।

शंका -- विपर्ययज्ञान सत्यार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है?

समाधान-- ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि, चन्द्रमामें पाये जानेवाले द्वित्वका दूसरे पदार्थोंमें सत्व पाया जाता है, इसलिये उस ज्ञानमें भूतार्थता बन जाती है।

अथवा, सद्भाव अर्थात् वस्तु-स्वरूपका निश्चय करानेवाले धर्मको ज्ञान कहते हैं। ज्ञानका इस प्रकारका लक्षण करनेसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप अवस्थामें ज्ञानका (सम्यग्ज्ञानका) अभाव प्रतिपादित हो जाता है। कारण कि शुद्ध निश्चयनयकी विवक्षामें तत्त्वार्थका उपलम्भ करानेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है। इसलिये मिथ्यादृष्टी जीव ज्ञानी नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार जिसकेद्वारा द्रव्य, गुण और पर्यायोंको जानते हैं उसे ज्ञान कहते हैं यह बात सिद्ध होती है।

शंका -- ज्ञान तो आत्मासे अभिन्न है, इसलिये वह पदार्थोंके जाननेके प्रति साधकतम कारण कैसे हो सकता है?

समाधान -- ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, साधकतम कारणरूप ज्ञानको आत्मासे सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न मान लेने पर आत्माके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है, और कथंचित भिन्न तथा अभिन्नस्वरूप अनेकान्तके मान लेने पर वस्तुस्वरूपकी उपलब्धि होती है, इसलिये आत्मासे कथंचित् भेदरूप ज्ञानको जाननेरूप क्रियाकेप्रति साधकतम कारण मान

१. कालपदेनात्र कालानुयोगद्वारो बोधद्वयः। तत्र चैकानेकजीवापेक्षया ज्ञानादिमार्गणानां कालः प्रतिपादितः। तत्र प्रतिपादितानि च सूत्राणि कालसुत्राणि ज्ञेयानि। प्रकृते च 'णाणाणुवादेण मदिअण्णाणिसुदअण्णाणीसु मिच्छादिट्ठी ओघं (कालानु. सू. २६३.) ओघेण मिच्छादिट्ठी केवचिरं कालादो होंति? णाणाजीवं पडुच्च सब्बद्धा (कालानु. सू. २१०.) एगजीवं पडुच्च अणादिओ अपज्जवसिदो, अणादिओ सपज्जवसिदो, सादिओ सपज्जवसिदो । (कालानु. सू ३.) कृ.जी.का.सू.

स्वरूपहानिप्रसङ्गादनेकान्ते स्वरूपोपलब्धेर्न तस्य करणत्वविरोध इति। उक्तं च --

जाणइ तिकाल-सहिं दव्व-गुणे पज्जए य बहु-भेए।

पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणं१ (१ मु. णाणे त्ति।) ति णं बेत्ति२ (२ प्रा. पं. १, ११७। गो. जी. २९९.) ।।९१।।

संयमनं संयमः । न द्रव्ययमः संयमः, तस्य 'सं' शब्देनापादितत्वात् । यमेन समितयः सन्ति, तास्वसतीषु संयमोऽनुपपन्न इति चेन्न, 'सं' शब्देनात्मसात्कृताशेषसमितित्वात् । अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालन निग्रहत्यागजयाः संयमः । उक्तं च--

लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ -- यदि धर्मको धर्मीसे सर्वथा भिन्न माना जावे तो दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जानेके कारण यह धर्म है और यह धर्मी है अथवा यह धर्म इस धर्मीका है, इस प्रकारका व्यवहार ही नहीं बन सकता है । इसलिये निश्चित धर्मके अभावमें वस्तुके विनाशका प्रसंग आता है । और यदि धर्मको धर्मीसे सर्वथा अभिन्न माना जावे तो धर्म और धर्मी इस प्रकारका भेदरूप व्यवहार नहीं बन सकता है, क्योंकि, सर्वथा अभेद मानने पर इन दोनोंमेंसे किसी एकका ही अस्तित्व सिद्ध होगा । उनमेंसे यदि केवल धर्मका ही अस्तित्व मान लिया जावे, तो उसके लिये आधार चाहिये, क्योंकि, कोई भी धर्म आधारके विना नहीं रह सकता है । और यदि केवल धर्मीका अस्तित्व मान लिया जावे तो धर्मके विना उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती है । इसलिये धर्मको धर्मीसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिये । इस तरह अनेकान्तके मानने पर ही धर्म-धर्मी व्यवस्था बन सकती है और धर्म-धर्मी व्यवस्थाके सिद्ध हो जाने पर ज्ञानको साधकतम कारण माननेमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं आता है । कहा भी है-

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनेक प्रकारकी पर्यायोंको प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाने उसको ज्ञान कहते हैं ।।९१।।

संयमन करनेको संयम कहते हैं । संयमका इस प्रकारका लक्षण करने पर द्रव्य-यम अर्थात् भावचारित्रशून्य द्रव्यचारित्र संयम नहीं हो सकता है, क्योंकि, संयम शब्दमें ग्रहण किये गये 'सं' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया है ।

शंका -- यहां पर यमसे समितियोंका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, समितियोंके नहीं होने पर संयम नहीं बन सकता है?

समाधान -- ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, संयममें दिये गये 'सं' शब्दसे संपूर्ण समितियोंका ग्रहण हो जाता है।

अथवा, पांच व्रतोंका धारण करना, पांच समितियोंका पालन करना, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन और कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच इंद्रियोंके विषयोंका जीतना संयम है। कहा भी है --

वय-समिङ्ग-कसायाणं दंडाण तर्हिदियाण पंचणहं।

धारण-पालण-णिग्गह-चाग-जया संजमो भणिओ१ (१ प्रा. पं. १२७ । गो. जी. ४६५) ।।१२।।

दृश्येतेऽनेनेति दर्शनम्। नाक्षणालोकेन चातिप्रसङ्गं तयोरनात्मधर्मत्वात्। दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनमित्युच्यमाने ज्ञान दर्शनयोरविशेषः स्यादिति चेन्न, अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजोरेकत्वविराधात्२ (२ उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत्प्रयत्नं तद्रूपं यत्स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। तदनन्तरं यद् बहिर्विषये विकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तज्ज्ञानमिति वार्तिकम्। यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात्पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद् व्यावृत्त्य यत्स्वरूपे प्रथममवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद् बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तद् ज्ञानं भण्यते। बृ. द्र. सं. पृ. ८१-८२.) । किं तच्चैतन्यमिति चेत्, त्रिकालगोचरानन्तपर्यायात्मकस्य जीवस्वरूपस्य स्वक्षयोपशमवशेन संवेदनं चैतन्यम्।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रम्हचर्य, अपरिग्रह इन पांच महाव्रतोंका धारण करना; ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप, उत्सर्ग इन पांच समितियोंका पालना; क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंका निग्रह करना; मन, वचन और कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच इंद्रियोंका जय; इसको संयम कहते हैं ।।१२।।

जिसकेद्वारा देखा जाय अर्थात् अवलोकन किया जाय उसे दर्शन कहते हैं। दर्शनका इस प्रकारका लक्षण करने पर चक्षु इंद्रिय और आलोक भी देखनेमें सहकारी होनेसे उनमें दर्शनका लक्षण चला जाता है, इसलिये अतिप्रसङ्ग दोष आता है। शङ्काकारकी इस प्रकारकी शङ्काको मनमें निश्चय करके

आचार्य कहते हैं कि इस तरह चक्षु इन्द्रिय और आलोकके साथ अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रिय और आलोक आत्माकेधर्म नहीं हैं। यहां चक्षुसे द्रव्य चक्षुका ही ग्रहण करना चाहिये।

शंका -- जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय उसे दर्शन कहते हैं। दर्शनका इस प्रकार लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शनमें कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अर्थात् दोनों एक हो जाते हैं?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख प्रकाशको ज्ञान माना है, इसलिये इन दोनोंके एक होनेमें विरोध आता है।

शंका -- यह चैतन्य क्या वस्तु है?

समाधान -- त्रिकालविषयक अनन्तपर्यायरूप जीवके स्वरूपका अपने क्षयोपशमके अनुसार जो संवेदन होता है उसे चैतन्य कहते हैं।

शंका -- अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंके ज्ञानको प्रकाश कहते हैं, इसलिये अन्तर्मुख

स्वतो व्यतिरिक्तबाह्यार्थावगतिः प्रकाश इत्यन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्जानात्यनेनात्मानं बाह्यमर्थमिति च ज्ञानमिति सिद्धत्वादेकत्वम्, ततो न ज्ञानदर्शनयोर्भेद इति चेन्न, ज्ञानादिव दर्शनात् प्रतिकर्मव्यवस्थाभावात्। महर्षस्त्वन्तर्बाह्यसामान्यग्रहणं दर्शनम्, विशेषग्रहणं ज्ञानमिति१ (१ जं सामण्यग्रहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं। स. त. ३.१.) चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनोऽक्रमेणोपलम्भात्२ (२ मु. वस्तुनो विक्रमेणोपलम्भात् ।)। सोऽप्यस्तु न कश्चिद्विरोध इति चेन्न, 'हंदि दुवे णत्थि उवजोगा' इत्यनेन सह विरोधात्। अपि च न ज्ञानं प्रमाणं, सामान्यव्यतिरिक्तविशेषस्यार्थक्रियाकर्तृत्वं प्रत्यसमर्थत्वतोऽवस्तुनो ग्रहणात्। न तस्य ग्रहणमपि, सामान्यव्यतिरिक्तविशेषे

चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाशके होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूपको और पर पदार्थोंको जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। इस प्रकारकी व्याख्याके सिद्ध हो जानेसे ज्ञान और दर्शनमें एकता आ जाती है, इसलिये उनमें भेद सिद्ध नहीं हो सकता है?

समाधान -- ऐसा नहीं है, क्योंकि, जिस तरह ज्ञानके द्वारा यह घट है, यह पट है, इत्यादि विशेषरूपसे प्रतिनियत कर्मकी व्यवस्था होती है उस तरह दर्शनके द्वारा नहीं होती है, इसलिये इन दोनोंमें भेद है।

शंका -- यदि ऐसा है तो अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन है तथा अन्तर्बाह्य विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, ऐसा मान लेना चाहिये?

समाधान -- ऐसा नहीं है, क्योंकि, सामान्य और विशेषात्मक वस्तुका क्रमके विना ही ग्रहण होता है।

शंका -- यदि सामान्यविशेषात्मक वस्तुका क्रमके विना ही ग्रहण होता है तो वह भी रहा आओ, ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है?

समाधान -- ऐसा नहीं है, क्योंकि 'छन्नस्थोंके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं', इस कथनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है।

दूसरी बात यह है, कि सामान्यको छोड़कर केवल विशेष अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ है। और जो अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पडता है। अतएव उसका ग्रहण करनेवाला होनेके कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है। तथा केवल विशेषका ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है, क्योंकि, सामान्यरहित, अवस्तुरूप केवल विशेषमें कर्ताकर्मरूप व्यवहार नहीं बन सकता है। इस तरह केवल विशेषको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध नहीं होनेसे केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाले दर्शनको भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं। अर्थात्, जब कि सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्य वस्तुरूपसे सिद्ध ही नहीं होते हैं तो केवल विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन प्रमाण कैसे माने जा सकते हैं?

अवस्तुनि१ (१ मु. व्यतिरिक्ते विशेषे ह्यवस्तुनि।) कर्तुकर्मरूपाभावात्। तत एव न दर्शनमपि प्रमाणम्। अस्तु प्रमाणाभाव इति चेन्न, प्रमाणाभावे सर्वस्याभावप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात्। ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं, तथात्मकस्वरूपग्रहणं, दर्शनमिति सिद्धम्। तथा च 'जं सामण्णग्गहणं२ (२ मु. सामण्णं गहणं।) तं दंसणं' इति वचनेन विरोधः स्यादिति चेन्न, तत्रात्मनः सकलबाह्यार्थसाधारणत्वतः सामान्यव्यपदेशभाजो ग्रहणात्३ (३ यद्यात्मग्राहकं दर्शनं भण्यते तर्हि 'जं सामण्णं गहणं भावाणं तदंसणं' इति गाथार्थः कथं घटते? तत्रोत्तरं सामान्यग्रहणमात्मग्रहणं तद्दर्शनम्। कस्मादिति चेत्, आत्मा वस्तुपरिच्छितं कुर्वन्निदं जानामीदं न जानामीति विशेषपक्षपातं न करोति, किन्तु सामान्येन वस्तु परिच्छिनन्ति, तेन कारणेन सामान्यशब्देनात्मा भण्यते। वृ. द्र सं. पृ. ८२-८३.) । तदपि

कथमवसीयत इति चेतः (४ मु. चेन्न।) 'भावानं णेव कडु आयारं' इति वचनात्। तद्यथा, भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थांमकृत्वा यद् ग्रहणं तद्दर्शनम्। अस्यैवार्थस्य पुनरपि

शंका -- यदि ऐसा है, तो प्रमाणका अभाव ही क्यों नहीं मान लिया जाय?

समाधान -- यह ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रमाणका अभाव मान लेने पर प्रमेय, प्रमाता आदि सभीका अभाव मानना पड़ेगा।

शंका -- यदि प्रमेयादि सभीका ही अभाव होता है तो होओ?

समाधान -- यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रमेयादिका अभाव देखनेमें नहीं आता है, किन्तु उनका सद्भाव ही दृष्टिगोचर होता है। अतः सामान्यविशेषात्मक बाह्य पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्यविशेषात्मक स्वरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है, यह सिद्ध हो जाता है।

शंका -- उक्त प्रकारसे दर्शन और ज्ञानका स्वरूप मान लेने पर 'वस्तुका जो सामान्य ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं' परमागमके इस वचनके साथ विरोध आता है?

समाधान -- ऐसा नहीं है, क्योंकि, आत्मा संपूर्ण बाह्य पदार्थोंमें साधारणरूपसे पाया जाता है, इसलिये उक्त वचनमें सामान्य संज्ञाको प्राप्त आत्माका ही सामान्य पदसे ग्रहण किया गया है।

शंका -- यह कैसे जाना जाय कि यहां पर सामान्य पदसे आत्माका ही ग्रहण किया है?

समाधान -- क्योंकि, 'पदार्थोंके आकार अर्थात् भेदको नहीं करके' इस वचनसे उक्त बात जानी जाती है। इसीको स्पष्ट करते हैं, भावोंके अर्थात् बाह्य पदार्थोंके आकार अर्थात् प्रतिकर्मव्यवस्थाको नहीं करके जो ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं। फिर भी इसी अर्थको दृढ़ करनेकेलिये कहते हैं कि 'यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक पदार्थ है' इत्यादि रूपसे

दृढीकरणार्थमाह, 'अविसेसिऊण अड्डे' इति, अर्थानविशेष्य यद् ग्रहणं तद्दर्शनमिति१ (१ यदा कोऽपि परसमयी पृच्छति जैनागमे दर्शनं ज्ञानं चेति गुणद्वयं जीवस्य कथ्यते तत्कथं घटत इति। तदा तेषामात्मकग्राहकं दर्शनमिति कथिते सति ते न जानन्ति। पश्चादाचार्यैस्तेषां प्रतीत्यर्थं स्थूलव्याख्यानेन बहिर्विषये यत्सामान्यपरिच्छेदनं तस्य सत्तावलोकनदर्शनसंज्ञा स्थापिता, यच्च शुक्लमिदमित्यादिविशेषपरिच्छेदनं तस्य ज्ञानसंज्ञा स्थापितेति दोषो नास्ति। सिद्धान्ते पुनः

स्वसमयव्याख्यान-मुख्यवृत्त्या । तत्र सूक्ष्मव्याख्याने क्रियमाणे सत्याचार्यैरात्मग्राहकं दर्शनं व्याख्यांतमित्यत्रापि दोषो नास्ति । बृ. द्र. सं. पृ. ८६.) । न बाह्यार्थगतसामान्यग्रहणं दर्शनमित्याशङ्कनीयं, तस्यावस्तुनः कर्मत्वाभावात् । न च तदन्तरेण विशेषो ग्राह्यत्वमास्कन्दति, अतिप्रसङ्गात् (२ मु. मास्कन्दतीत्यतिप्रसङ्गात् ।) । सत्येवमनध्यवसायो दर्शनं स्यादिति चेन्न, स्वाध्यवसायस्यानध्यवसितबाह्यार्थस्य दर्शनत्वात् । दर्शनं प्रमाणमेव, अविसंवादित्वात्, प्रतिभासः प्रमाणञ्चाप्रमाणञ्च, विसंवादाविसंवादोभयरूपस्य तत्रोपलम्भात् । आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम् । अस्य गमनिका-आलोकत इत्यालोकनमात्मा,

पदार्थोंकी विशेषता न करके जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं । इस कथनसे यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि बाह्य पदार्थोंमें रहनेवाले सामान्यको ग्रहण करना दर्शन है, तो उसकी ऐसी आशङ्का करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, विशेषरहित केवल सामान्य अवस्तुस्वरूप है, इसलिये वह दर्शनके विषयभावको (कर्मपनेको) नहीं प्राप्त हो सकता है । उसी प्रकार सामान्यके विना केवल विशेष भी ज्ञानके द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता है, क्योंकि, अवस्तुरूप केवल विशेष अथवा केवल सामान्यका ग्रहण मान लिया जावे तो अतिप्रसङ्ग दोष आता है ।

शंका -- दर्शनके लक्षणको इस प्रकारका मान लेने पर अनध्यवसायको दर्शन मानना पड़ेगा?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थका निश्चय न करते हुए भी स्वरूपका निश्चय करनेवाला दर्शन है, इसलिये वह अनध्यवसायरूप नहीं है । ऐसा दर्शन अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण ही है । और जो प्रतिभास अर्थात् ज्ञानसामान्य है वह प्रमाण भी हैं और अप्रमाण भी है, क्योंकि, उसमें विसंवाद और अविसंवाद ये दोनों रूप पाये जाते हैं ।

अथवा आलोकन वृत्तिको अर्थात् आत्माके व्यापारको दर्शन कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि जो आलोकन करता है उसे आलोकन अर्थात् आत्मा कहते हैं । और वर्तन अर्थात् व्यापारको वृत्ति कहते हैं । तथा आलोकन अर्थात् आत्माकी वृत्ति को आलोकनवृत्ति कहते हैं, इसीका नाम

वर्तनं वृत्तिः, आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं, तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः । प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम् । अस्य गमनिका- प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनम् । विषयाविषयिसंपातात् पूर्वावस्था दर्शनमित्यर्थः । उक्तं च ---

जं सामण्णग्गहणं (१ मु. सामण्णं गहणं) भावाणं णेव कट्टु आयारं ।

अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए२ (प्रा. पं. १, १३५। गो. जी. ४८२. भावानां सामान्यविशेषात्मकबाह्यपदार्थाना आकारं भेदग्रहणमकृत्वा यत्सामान्यग्रहणं स्वरूपमात्रावभासनं तद्दर्शनमिति परमागमे भण्यते। वस्तुस्वरूपमात्रग्रहणं कथं? अर्थात् बाह्यपदार्थान् अविशेष्य जातिक्रियाग्रहणविकारैरविकल्प्य स्वपरसत्तावभासनं दर्शनमित्यर्थः। जी. प्र. टी. भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरुवमेत्तं जं । वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि।। गो. जी. ४८३.) ।।१३।।

लिम्पतीति लेश्या। न भूमिलेपिकयाऽतिव्याप्तिदोषः, कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारापेक्षितत्वात्। अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लेश्या। नात्रातिप्रसङ्गदोषः, प्रवृत्तिशब्दस्य कर्मपर्यायत्वात्। अथवा कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या३ (३ कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या। स. सि. २, ३.) । ततो न केवलः कषायो लेश्या, नापि योगः, अपि तु कषायानुविद्धा

स्वसंवेदन है, उसीको दर्शन कहते हैं। यहां पर दर्शन इस शब्दसे लक्ष्यका निर्देश किया है। अथवा, प्रकाश-वृत्तिको दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ इसप्रकार है कि प्रकाश ज्ञानको कहते हैं और उस ज्ञानके लिये जो आत्माका व्यापार होता है उसे प्रकाशवृत्ति कहते हैं, और वही दर्शन है। अर्थात् विषय और विषयीके योग्य देशमें होनेकी पूर्वावस्थाको दर्शन कहते हैं। कहा भी है ---

सामान्यविशेषात्मक बाह्य पदार्थोंको अलग अलग भेदरूपसे ग्रहण नहीं करके जो सामान्य ग्रहण अर्थात् स्वरूपमात्रका अवभासन होता है उसको परमागममें दर्शन कहा है ।।१३।।

जो लिम्पन करती है उसे लेश्या कहते हैं। यहां पर जो लिम्पन करती है यह लक्षण भूमिलेपिका (जिसके द्वारा जमीन लिपी जाती है) में चला जाता है, इसलिये लक्ष्यभूत लेश्याको छोड़कर लक्षणके अलक्ष्यमें चले जानेके कारण अतिव्याप्ति दोष आता है। ऐसी शंकाको मनमें उठाकर आचार्य कहते हैं की इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर भी अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है, क्योंकि, इस लक्षणमें 'कर्मोंसे आत्माको' इतने अध्याहारकी अपेक्षा है। इसका यह तात्पर्य है, कि जो कर्मोंसे आत्माको लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं। अथवा, जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्मका संबन्ध करनेवाली है उसको लेश्या कहते हैं। इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहां पर प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची ग्रहण किया है। अथवा, कषायसे अनुरंजित काययोग, वचनयोग और मनोयोगकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। इसप्रकार लेश्याका लक्षण करने पर केवल कषाय और केवल

योगप्रवृत्तिर्लेश्येति सिध्दम्। ततो न वीतरागाणां योगो लेश्येति न प्रत्यवस्येयं तन्त्रत्वाद्योगस्य, न कषायस्तन्त्रं, विशेषणत्वतस्तस्य प्राधान्याभावात्। उक्तं च ---

लिंपदि अप्पीकीरदि एदाए णियय-पुण्ण-पावं च।

जीवो ति होइ लेस्सा लेस्सा-गुण-जाणय-क्खादा१ (१ प्रा. पं. १, १४२। गो. जी. ४८९। किन्तु 'णिययपुण्णपावं च' इत्यत्र 'णियअपुण्णपुण्णं च' पाठः।) ॥१४॥

निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः। उक्तं च ---

सिध्दत्तणस्स२ (२ प्रा. पं. १, १५४। गो. जी. ५५८. किन्तु 'सिध्दत्तणस्स' इति स्थाने 'भवत्तणस्स' इति पाठः।) जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिध्दा ॥

ण उ मल-विगमे णियमो ताणं कणगोवलाणमिव३ (३ भण्णइ भव्वो जोग्गो न य जोगत्तेण सिज्झई सव्वो। जह जोगम्मि वि दलिए सव्वत्थ न किरए पडिमा. ॥ जह वा स एव पासाणकणगजोगो विओगजोग्गोऽवि। न वि जुज्जइ सव्वोच्चिय स विजुज्जइ जस्स संपत्ती।। किं पुण जा संपत्ती सा जोग्गस्सेव न उ अजोग्गस्स । तह जो मोक्खो नियमा सो भव्वाणं न इयरेसिं।। वि. भा. २३१३,- २३१५.) ॥१५॥

योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं किन्तु कषायानुविध्द योगप्रवृत्तिको ही लेश्या कहते हैं, यह बात सिध्द हो जाती है। इससे ग्यारहवे आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियोंके केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं ऐसा निश्चय नही कर लेना चाहिये, क्योंकि, लेश्यामें योगकी प्रधानता है। कषाय प्रधान नहीं है, क्योंकि वह योगप्रवृत्तिका विशेषण है। अतएव उसकी प्रधानता नहीं है। कहा भी है -

जिसकेद्वारा जीव पुण्य और पापसे अपनेको लिप्त करता है, उनकेआधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं, ऐसा लेश्याकेस्वरूपको जाननेवाले गणधरदेव आदिने कहा है ॥१४॥

जिसने निर्वाणको पुरस्कृत किया है, अर्थात् जो सिद्धिपद प्राप्त करनेके योग्य है, उसको भव्य कहते हैं। कहा भी है---

जो जीव सिध्दत्व, अर्थात् सर्व कर्मसे रहित मुक्तिरूप अवस्था पानेके योग्य है उन्हें भव्यसिध्द कहते हैं। किन्तु उनकेकनकोपल अर्थात् स्वर्णपाषाणकेसमान मलका नाश होनेमें नियम नहीं है।

विशेषार्थ -- सिध्दत्वकी योग्यता रखते हुए भी कोई जीव सिध्द अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं और कोई जीव सिध्द अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जो भव्य होते हुए भी सिध्द अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं, उनकेलिये यह कारण बतलाया है कि जिस प्रकार स्वर्णपाषाणमें सोना रहते हुए भी उसका अलग किया जाना निश्चित नहीं है, उसी प्रकार सिध्द अवस्थाकी योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके नहीं मिलनेसे सिध्द-पदकी प्राप्ति नहीं होती है।

तद्विपरीतोऽभव्यः । सुगममेतत् ।

प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिव्याभिव्यक्तलक्षणं, सम्यक्त्वम्^१(१ प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिव्याभिव्यक्तलक्षणं प्रथमं ॥ रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः । संसारद्भीरुता संवेगः । सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा । जीवादयोऽर्था यथास्वभावैः सन्तीति मतिरास्तिव्यम् । एतैरभिव्यक्तलक्षणं प्रथमं सरागसम्यक्त्वमित्युच्यते । त. रा. वा. १, २, ३०.) । सत्येवमसंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्याभावः स्यादिति चेत्सत्यमेतत्, शुध्दनये समाश्रियमाणे । अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । अस्य गमनिकोच्यते- आप्तागमपदार्थास्तत्त्वार्थास्तेषु^२ (२ मु. पदार्थास्तत्त्वार्थास्तेषु ।) श्रद्धानमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः । कथं पौरस्त्येन लक्षणेनास्य लक्षणस्य न विरोधश्चेन्नैष दोषः, शुध्दाशुध्दनयसमाश्रयणात् । अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं, अशुध्दतरनयसमाश्रयणात् । उक्तं च---

जिन्होंने निर्वाणको पुरस्कृत नहीं किया हैं उन्हें अभव्य कहते हैं । इसका अर्थ सरल है ।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिव्यकी प्रगटता जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं ।

शंका -- इस प्रकार सम्यक्त्वका लक्षण मान लेने पर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका अभाव हो जायगा?

समाधान -- शुध्द निश्चयनयका आश्रय करने पर यह कहना सत्य है ।

अथवा तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि आप्त, आगम और पदार्थको तत्त्वार्थ कहते हैं । और उनके विषयमें श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं । यहां पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है । तथा आप्त, आगम और पदार्थका श्रद्धान लक्षण है ।

शंका -- पहले कहे हुए सम्यक्त्वके लक्षणके साथ इस लक्षणका विरोध क्यों न माना जाय? अर्थात् पहले लक्षणमें प्रशमादि गुणोंकी अभिव्यक्तिको सम्यक्त्व कह आये हैं और इस लक्षणमें आप्त आदिके

विषयमें श्रद्धाको सम्यक्त्व कहा है। इसलिये ये दोनों लक्षण भिन्न भिन्न अर्थको प्रगट करते हैं, इन दोनोंमें अविरोध कैसे हो सकता है?

समाधान -- यह कोई दोष नहीं हैं, क्योंकि, शुद्ध और अशुद्ध नयकी अपेक्षासे ये दोनों लक्षण कहे गये हैं । अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण शुद्धनय की अपेक्षासे है और तत्त्वार्थश्रद्धानरूप लक्षण अशुद्धनयकी अपेक्षासे है, इसलिये इन दोनों लक्षणोंके कथनमें दृष्टीभेद होनेके कारण कोई विरोध नहीं आता है ।

अथवा तत्त्वचिको सम्यक्त्व कहते हैं। यह लक्षण अशुद्धतर नयकी अपेक्षा जानना चाहिये । कहा भी है--

छ-प्पंच-णव-विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइद्वाणं ।

आणाए अहिगमेण१ (१ मु. आणाएं हिगमेण।) व सद्वहणं होइ सम्मत्तं२ (२ प्रा.पं. १,१५९। गो. जी. ५६१. आणाए आज्ञया प्रमाणादिभिर्विना ईषन्निर्णयलक्षणया। अहिगमेण अधिगमेण प्रमाणनयआप्तवचनाश्रयेण निक्षेपनिरुक्त्यनुयोगद्वारैः विशेषनिर्णयलक्षणेन। जी. प्र. टी.) ॥९६॥

सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी । नैकेन्द्रियादिनातिप्रसङ्गः, तस्य मनसोऽभावात्। अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही३ (३ हिताहितविधिनिषेधात्मिका शिक्षा। करचरणचालनादिरूपा क्रिया। चर्मपुत्रिकादिनोपदिश्यमानवधविधानादिरूपदेशः। श्लोकादिपाठ आलापः। तद्ग्राही मनोऽवलंबेन यो मनुष्यः उक्षगजराजकीरादिजीवः स संज्ञी नाम। गो. जी., जी. प्र., टी. ६६२.) संज्ञी। उक्तं च---

सिक्खा-किरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण ।

जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीदो असण्णी दु४ (४ प्रा. पं. १, १७३। गो. जी. ६६१. मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च। सिक्खदि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीदो।। गो. जी ६६१.) ॥९७॥

शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः। सुगममेतत्। उक्तं च---

आहरदि सरीराणं तिण्हं एगदर-वग्गणाओ जं ।

भासा-मणस्स णियदं तम्हा आहारओ भणिओ५ (५ प्रा. पं. १, १७६। गो. जी. ६६५. तत्र च 'भासामणस्स' स्थाने 'भासामणाण' इति पाठः। उदयावण्णसरीरोदएण तद्देहवयणचित्ताणं। णोकम्मवग्गणाणं ग्रहणं आहारयं णाम।। गो.जी. ६६४.) ।।९८।।

जिनेन्द्र भगवानके द्वारा उपदेश दिये गये छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थोंका आज्ञा अर्थात् आप्तवचनके आश्रयसे अथवा अधिगम अर्थात् प्रमाण, नय, निक्षेप और निरुक्तिरूप अनुयोगद्वारोंसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ।।९६।।

जो भलीप्रकार जानता है उसको संज्ञा अर्थात् मन कहते हैं। वह मन जिसके पाया जाता है उसको संज्ञी कहते हैं। यह लक्षण एकेन्द्रियादिकमें चला जायगा, इसलिये अतिप्रसंग दोष आजायगा यह बात भी नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियादिकके मन नहीं पाया जाता है। अथवा जो शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसको संज्ञी कहते हैं। कहा भी है -

जो जीव मनके अवलम्बनसे शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते हैं। और जो इन शिक्षा आदिको ग्रहण नहीं कर सकता है उसको असंज्ञी कहते हैं ।।९७।।

औदारिकादि शरीरके योग्य पुद्गलपिण्डके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं। इसका अर्थ सरल है। कहा भी है---

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंमेंसे उदयको प्राप्त हुए किसी

तद्विपरीतोऽनाहारः । उक्तं च---

विग्गह१ (१ प्रतरलोकपूरणसमुद्धातपरिणतसयोगिजिनाः । गो. जी., जी. प्र., टी. ६६६.)

-गइमावण्णा केवल्लिणो समुहदा अजोगी य ।

सिध्दा य अणाहारा सेसा आहारया जीवार (२ प्रा. पं. १, १७७। गो.जी. ६६६.) ।।९९।।

अन्विष्यमाणगुणस्थानानामनुयोगद्वारप्ररुपणार्थमुत्तरसूत्रमाह-

एदेसिं चेव चोदसण्हं जीवसमासाणं परुवणइदाए तत्थ इमाणि अइ अणियोगद्वाराणि णायव्वाणि भवंति ।।५।।

‘तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्वाराणि’ एतदेवालं, शेषस्य नान्तरीयकत्वादिति चेन्नैषः, मन्दबुद्धिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्। अनुयोगो नियोगो भाषा विभाषा वर्तिकेत्यर्थः३ (३ मु. वार्तिकेत्यर्थः। तत्रानुयोजनमनुयोगः, किञ्च तत् ? श्रुते निजाभिधेय सम्बन्धनं, अथवा योग इति व्यापार उच्यते, ततश्चानुरूपोऽनुकूलो वा योगो, यथा घटशब्देन घतो भण्यते, अणुना वा योगो अणुयोग इत्येवमादि। तथा निश्चितो योगो नियोगो यथा घटध्वनिना घट एवोच्यते नान्य इत्येवमादि। भाषणं भाषा,)। उक्तं च---

एक शरीरके योग्य तथा भाषा और मनके योग्य पुद्गलवर्गणाओंको जो नियमसे ग्रहण करता है उसको आहारक कहते हैं ॥९८॥

उसके विपरीतको अर्थात् औदारिक आदि शरीरके योग्य पुद्गलपिण्डके ग्रहण नहीं करनेको अनाहार कहते हैं। कहा भी है---

विग्रहगतिको प्राप्त होनेवाले चारों गतिके जीव, प्रतर और लोकपूरण समुध्दातको प्राप्त हुए सयोगिकेव्रली, और अयोगिकेव्रली तथा सिद्ध ये नियमसे अनाहारक होते हैं। शेष जीवोंको आहारक समझना चाहिये ॥९९॥

अन्वेषण किये जानेवाले गुणस्थानोंके आठ अनुयोगद्वारोंके प्ररुपण करनेकेलिये आगेका सूत्र कहते हैं--

इन ही चौदह जीवसमासोंके (गुणस्थानोंके) निरुपण करने रूप प्रयोजनके होनेपर वहां आगे कहे जानेवाले ये आठ अनुयोगद्वार समझना चाहिये ॥५॥

शंका -- ‘तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्वाराणि’ इतना सूत्र बनाना ही पर्याप्त था, क्योंकि, सूत्रका शेष भाग इसका अविनाभावी है। अतएव उसका स्वयं ग्रहण हो जाता है। उसे सूत्रमें निहित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी?

समाधान -- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि प्राणियोंके अनुग्रहकेलिये शेष भागको सूत्रमें ग्रहण किया गया है।

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वर्तिका ये पांचों पर्यायवाची नाम हैं। कहा भी है -

अणियोगो य णियोगो भास-विभासा य वट्टिया चेष।

एदे अणिओअस्स दु णामा एयट्ठआ पंचण (१ आ. नि. १२५) ॥१००॥

सूई मुद्रा पडिहो संभवदल-वट्टिया चेय ।

अणियोग-णिरुत्तीए दिट्ठंता होंति पंचेय२ (२ कट्ठे पोत्थे चित्ते सिरिघरिए बोंड-सिरिघरिए बोंड-देसिए चेव । भासगविभासए वा वित्तीकरणे य आहरणा (नि.१२९) पढमो रुवागांर थूलावयवोदंसण बीओ । तइओ सव्वावयवे निद्दोसे सव्वहा कुणइ ॥ कट्टसमाणं सुत्तं तदत्थरुवेगभासणं भासा । थूलत्थाण विभासा सव्वेसिं वत्तियं नेयं ॥ वि.भा १४३३-१४३५. प्रथमः काष्ठे रुपकारो रुपमाविर्भावयति, 'डउलेइ' ति भणियं होइ । तथा व्दितीयस्तु स्थूलावयवोपदर्शनं, 'वड्डेइ' ति भणियं होइ । तृतीयस्तु सर्वथा सर्वानवयवान्निर्दोषान् करोति, चीरतीत्येमाद्युक्तं भवतीति दृष्टान्त गाथार्थः । वि.भा. को. वृ १४३४.) ॥१०१॥

एते अष्टावधिकाराः अवश्यं ज्ञातव्याः भवन्ति, अन्यथा जीवसमासाव-

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वर्तिका ये पांच अनुयोगके एकार्थवाची नाम जानना चाहिये

॥१००॥

अनुयोगकी निरुक्तिमें सूची, मुद्रा, प्रतिघ, संभवदल और वर्तिका ये पांच दृष्टान्त होते हैं ॥१०१॥

विशेषार्थ -- अनुयोगकी निरुक्तिमें जो पांच दृष्टान्त दिये हैं वे लकडी आदिके कामको लक्ष्यमें रखकर दिये गये प्रतीत होते हैं । जैसे, लकडीसे किसी वस्तुको तैयार करनेके लिये पहले लकडीके निरुपयोगी भागको निकालनेकेलिये उसके ऊपर एक रेखामें डोरा डाला जाता है, इसे सूचीकर्म कहते हैं । अनन्तर उस डोरासे लकडीके ऊपर चिन्ह कर दिया जाता है, इसे मुद्राकर्म कहते हैं । इसके बाद लकडीके निरुपयोगी भागको छंटकर निकाल दिया जाता है, इसे प्रतिघ या प्रतिघातकर्म कहते हैं । फिर उस लकडीके कामके लिये उपयोगी जितने भागोंकी आवश्यकता होती है उतने भाग कर लिये जाते हैं इसे संभवदलकर्म कहते हैं । और अन्तमें वस्तु तैयार करके उसके ऊपर ब्रश आदिसे पालिश कर दिया जाता है, यही वर्तिकाकर्म है । इस तरह इन पांच कर्मोंसे जैसे विवक्षित वस्तु तैयार हो जाती है, उसी प्रकार अनुयोग शब्दसे भी आगमानुकूल संपूर्ण अर्थका ग्रहण होता है । नियोग, भाषा, विभाषा और वर्तिका ये चारों अनुयोग शब्दके द्वारा प्रगट होनेवाले अर्थको ही उत्तरोत्तर विशद करते हैं, अतएव वे अनुयोगके ही पर्यायवाची नाम हैं ॥१०१॥

ये आठ अधिकार अवश्य ही जानने योग्य हैं, क्योंकि, इनके परिज्ञानके विना जीव-

व्यक्तीकरणमित्यर्थः, तद्यथा, घटनाद् घटः, चेष्टावानित्यर्थः । विविधा भाषा विभाषा, यथा घटः कुटः कुम्भ इत्येवमादि । 'वर्तिकं' वृत्तौ भवं वार्तिकं अशेषपर्यायकथनमित्यर्थः । अनुयोगस्य पुनरमूनि एकार्थिकानि पञ्चेति । वि.भा., को. वृ. १३९२.

गमानुपपत्तेरिति श्रुतवतः शिष्यस्य तन्निर्देशविषयसंशयः समुत्पद्यत इति जातनिश्चयः पृच्छासूत्रमाह--

तं जहा ॥ ६ ॥

अव्यक्तत्वात्तदिति नपुंसकलिङ्गनिर्देशः । 'तद्' अष्टानामनुयोगद्वाराणां निर्देशः । यथेति पृच्छा । एवं पृष्ठवतः शिष्यस्य संदेहापोहनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

संतपरुवणा दव्वपमाणानुगमो खेत्तानुगमो फोसणानुगमो कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पाबहुगणुगमो चेदि ॥ ७ ॥

अद्वुण्णमणियोगद्वाराणमाइम्मि किमिदि संतपरुवणा चेय उच्चदे? ण, संताणियोगो सेसाणियोगद्वाराणं जेण जोणीभूदो तेण पढमं संताणियोगो चेव भण्णदे१ ।

समासोंका ज्ञान नहीं हो सकता है ऐसा सुननेवाले शिष्यको उन आठ अनुयोगद्वारोंके नामके विषयमें संशय उत्पन्न हो सकता है । इस प्रकारका निश्चय होने पर आचार्य पृच्छासूत्रको कहते हैं --

वे आठ अधिकार जैसे? ॥ ६ ॥

कहा जानेवाला विषय अव्यक्त होनेसे 'सामान्ये नपुंसकम्' इस नियमको ध्यानमें रखकर आचार्यने 'तद्' यह नपुंसकलिङ्ग निर्देश किया है, जो कि आगे कहे जानेवाले उन आठों ही अनुयोगद्वारोंका निर्देश करता है । 'यथा' यह पद पृच्छाको प्रगट करता है । अर्थात् वे आठ अनुयोगद्वार कौनसे हैं? इस प्रकार पूछनेवाले शिष्यके संदेहको दूर करनेकेलिये, आगेका सूत्र कहते हैं ---

सत्प्ररुपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम ये आठ अनुयोगद्वार हैं ॥ ७ ॥

शंका -- आठ अनुयोगद्वारोंके आदिमें सत्प्ररुपणा ही क्यों कही गई है?

समाधान -- ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, सत्प्ररूपणारूप अनुयोगद्वार जिस कारणसे शेष अनुयोगद्वारोंका योनिभूत (मूलकारण) है, उसी कारण सबसे पहले सत्प्ररूपणाका ही निरूपण किया है।

१. सत्त्वं ह्यव्यभिचारि सर्वपदार्थविषयत्वात्, न हि कश्चित् पदार्थः सत्तां व्यभिचरति XXसर्वेषां च विचाराहणिमस्तित्वं मूलं तेन हि निश्चितस्य वस्तुन उत्तरा चिंता युज्यते अतस्तस्यादी वचनं क्रियते। सतः परिणामोपलब्धेः संख्येपदेशः। निर्जातसंख्यस्य निवासविप्रतिपत्तेः क्षेत्राभिधानम्। अवस्थाविशेषस्य वैचित्र्यात् त्रिकालविषयोपश्लेषनिश्चयार्थं स्पर्शनम्। स्थितिमतोवधिपरिच्छेदार्थं कालोपादानम्। अनुपहतवीर्यस्य न्यग्भवि पुनरुद्भूतिदर्शनात्तद्वचनम् (अंतरवचनम्)। परिणामप्रकारनिर्णयार्थं भाववचनम्। संख्याताद्यन्यतमनिश्चयेऽप्यन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थं मल्पबहुत्ववचनम्। त.रा. वा.पृ.३०.

संतपरुवणाणंतरं किमिदि दव्वपमाणाणुगमो उच्चदे? ण, णिय-संखा-गुणिदोगाहणखेत्तं खेत्तं उच्चदे। एदं चेव अदीद-फुसणेण सह फोसणं उच्चदे। तदो दो वि अहियारा संखा-जोणिणो। णाणेग-जीवे अस्सिऊण उच्चमाण-कालंतर-परुवणा वि संखा-जोणी। इदं थोवमिदं च बहुवमिदि भण्णमाण-अप्पाबहुगं पि संखा-जोणी। तेण एदाणमाइम्हि दव्वपमाणाणुगमो भण्ण-जोग्गो। एत्थ भावो किमिदि ण उच्चदे? ण, तस्स बहुवण्णणादो। कधं भावो बहु-वण्णणीयो? ण, कम्म-कम्मोदय-परुवणाहि विणा तस्स परुवणाभावादो। छ-वड्ढि-हाणि-द्विय-भाव-संखमंतरेण भाव-वण्णणाणुववत्तीदो वा। वड्ढमाण-फासं वण्णेदि खेत्तं। फोसणं पुण अदीदं वड्ढमाणं च वण्णेदि। अवगय-वड्ढमाणफासो सुहेण दो वि पच्छ जाणदु त्ति

शंका -- सत्प्ररूपणाके बाद द्रव्यप्रमाणानुगमका कथन क्यों किया गया है?

समाधान -- क्योंकि, अपनी अपनी संख्यासे गुणित अवगाहनारूप क्षेत्रको ही क्षेत्र कहते हैं। और अपनी अपनी संख्यासे गुणित अवगाहनारूप क्षेत्र ही भूतकालीन स्पर्शनके साथ स्पर्शन कहा जाता है। इसलिये इन दोनों ही अधिकारोंका संख्याधिकार (द्रव्यप्रमाणानुगम) योनिभूत है। उसी प्रकार नाना जीव और एक जीवकी अपेक्षा वर्णन की जानेवाली कालप्ररूपणा और अन्तरप्ररूपणाका भी संख्याधिकार योनिभूत हैं। तथा यह अल्प है, यह बहुत है, इस प्रकार कहे जानेवाले अल्पबहुत्वानुयोगद्वारका भी संख्याधिकार योनिभूत है। इसलिये इन सबके आदिमें द्रव्यप्रमाणानुगमका ही कथन करना योग्य है।

शंका -- यहां भावप्ररूपणाका वर्णन क्यों नहीं किया गया है?

समाधान -- उसका वर्णन करने योग्य विषय बहुत है, इसलिये यहां भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं किया गया है ।

शंका -- यह कैसे जाना जावे कि भावप्ररूपणा बहुवर्णनीय है?

समाधान -- ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, कर्म और कर्मोदयके निरूपणके विना भाव का निरूपण नहीं हो सकता है, इसलिये भाव बहुवर्णनीय है यह समझना चाहिये । अथवा, षड्गुणी हानि और षड्गुणी वृद्धिमें स्थित भावकी संख्याके विना भाव का वर्णन नहीं हो सकता है, इसलिये भी यहां भाव का वर्णन नहीं किया गया है ।

शंका -- क्षेत्रानुयोग वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। और स्पर्शनानुयोग अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। जिसने वर्तमानकालीन स्पर्शको जानलिया है वह अनन्तर सरलतापूर्वक अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लेवे, इसलिये

पोसणपरुवणादो होदु णाम पुव्वं खेत्तस्स परुवणा, ण पुण कालंतरेहिंतो? इदि ण, अणवगय-खेत्त-फोसणस्स तक्कालंतर-जाणणुवायाभावादो। ण च संतत्थमागमो१ (१ मु. संतमत्थमागमो।) ण परुवेइ, तस्स अत्थावयत्तप्पसंगादो। णेदाणिं तक्कालंतरं पडिज्जदीदि२ (२ मु. पडिवज्जदीदि।) चेण्ण, तप्पढणे विरोहाभावादो। तहा भावप्पाबहुगाणं पि परुवणा खेत्त-फोसणाणुगमंतरेण ण तव्विसया होदि ३ (३ मु. होति।) ति पुव्वमेव खेत्त-फोसण-परुवणा कायव्वा। सेसाहियारेसु संतेसु ते मोत्तूण किमट्ठं कालो पुव्वमेव उच्चदे? ण ताव अंतरपरुवणा एत्थ भणण-जोग्गा, काल-जोणित्तादो। ण भावो वि, तस्स तदो हेट्ठिमअहियार-जोणित्तादो। ण अप्पाबहुगं पि, तस्स वि, सेसाणियोग-जोणित्तादो पारिसेसादो४ (४ मु. पारिसेसादो।) कालो चेव तत्थ

स्पर्शन प्ररूपणाके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन रहा आवे इसमें कोई आपत्ति नहीं, परंतु काल और अन्तरप्ररूपणाके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन संभव नहीं हैं ।

समाधान -- नहीं, क्योंकि, जिसने क्षेत्र और स्पर्शनको नहीं जाना है उसे तत्संबन्धी काल और अन्तरके जाननेका कोई भी उपाय नहीं प्राप्त हो सकता है। और आगम, जिस प्रकारसे वस्तु-व्यवस्था है,

उसी प्रकारसे प्ररूपण नहीं करे यह हो नहीं सकता है। यदि ऐसा नहीं माना जावे तो उस आगमको अर्थापदत्व अर्थात् अनर्थकपदत्वका प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

शंका -- तो भी क्षेत्र और स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात् तत्सम्बन्धी काल और अन्तरप्ररूपणाका कथन प्राप्त नहीं होता है?

समाधान -- ऐसा नहीं है, क्योंकि, क्षेत्र और स्पर्शनके बाद काल और अन्तरप्ररूपणाके कथन करनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

उसीप्रकार भाव और अल्पबहुत्वकी भी प्ररूपणा क्षेत्रे और स्पर्शनानुगमके विना क्षेत्र और स्पर्शनको विषय करनेवाली नहीं हो सकती है, इसलिये इन सबके पहले ही क्षेत्र और स्पर्शनानुगमका कथन करना चाहिये।

शंका -- अन्तरादि शेष अधिकारोंके रहते हुए भी उन्हें छोड़कर कालाधिकारका कथन पहले क्यों किया गया है?

समाधान -- यहांपर (स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात्) अन्तरप्ररूपणाका कथन तो किया नहीं जा सकता है, क्योंकि, अन्तरप्ररूपणाकामूल-आधार (योनी) कालप्ररूपणा ही है। स्पर्शनप्ररूपणाके बाद भावप्ररूपणाका भी वर्णन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि, उससे पूर्वका अधिकार भावप्ररूपणाका योनिरूप है। उसी प्रकार स्पर्शनप्ररूपणाके बाद अल्पबहुत्वप्ररूपणाका भी कथन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि शेष अनुयोगद्वारा उसका अल्पबहुत्वप्ररूपणाका योनिरूप है। इस प्रकार जब स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात् अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इनमेंसे किसीका भी प्ररूपण नहीं हो सकता था तब परिशेषन्यायसे वही पर काल ही प्ररूपणाके योग्य है यह बात सिद्ध हो जाती है।

परुवणा-जोगो ति । भावप्पाबहुगाणं जोगित्तादो पुव्वमेवंतरपरुवणा उता । अप्पाबहुगजोगित्तादो पुव्वमेव भावपरुवणा उच्चदे । सुत्ते तहा परुवणा किमिदि ण दिस्सदे ? ण, सुत्तस्सत्थ-सूयणमेत्त-वावारादो । तहाइरिया किमिदि ण वक्खारणेंति? ण, अवधारणसमत्थाणं सिस्साणं संपहि अभावादो तहोवएसाभावादो वा । अत्थित्तं भणदि संताणियोगो । संताणियोगमिह जमत्थित्तं उत्तं तस्स पमाणं परु वेदि दव्वाणियोगो । तेहितो अवगय-संत-पमाणणं वट्टमाणोगाहणं परुवेदि खेत्ताणियोगो । पुणो तेहितोवलद्ध-संत-पमाण-खेत्ताणं अदीद-काल-विसिद्ध-फासं परुवेदि फोसणाणुगमो । तेहितोअवगय संत-पमाण-खेत्त-फोसणाणं

द्विदिं परूवेदि कालाणियोगो । तेसिं चव विरह परूवेदी अंतराणियोगो । तेसिं चव भावं परूवेदी भावाणियोगो । तेसिं चव थोव-बहुत्तं वण्णेदि अप्पाबहुगमिदि । उतं च---

अत्थित्तं पुण संतं अत्थित्तस्स य तहेव परिमाणं ।

पच्चुप्पणं खेत्तं अदीद-पदुप्पण्णं फुसणं ॥१०२॥

भावप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणाकी योनि होनेसे इन दोनोंके पहले ही अन्तरप्ररूपणाका उल्लेख किया है । तथा अल्पबहुत्वकी योनि होनेसे इसकेपहले ही भावप्ररूपणाका कथन किया है ।

शंका -- सूत्रमें इस प्रकारकी प्ररूपणा क्यों नहीं दिखाई देती है?

समाधान -- यह कोई बात नहीं, क्योंकि, सूत्रका कार्य अर्थकी सूचना करना मात्र है ।

शंका -- यदि ऐसा है तो दूसरे आचार्य उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओंका व्याख्यान क्यों नहीं करते हैं ।

समाधान -- ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, एक तो आजकल विस्तृत व्याख्यानरूप तत्त्वार्थके अवधारण करनेमें समर्थ शिष्योंका अभाव है, और दूसरे उस प्रकारके उपदेशका अभाव है । इसलिये आचार्यों ने उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओंका व्याख्यान नहीं किया ।

सत्प्ररूपणा पदार्थोंके अस्तित्वका कथन करती है । सत्प्ररूपणामें जो पदार्थोंका अस्तित्व कहा गया है उनके प्रमाणका वर्णन द्रव्यानुयोग करता है । इन दोनों अनुयोगोंके द्वारा जाने हुए अस्तित्व और संख्या-प्रमाणरूप द्रव्योंकी वर्तमान अवगाहनाका निरूपण क्षेत्रानुयोग करता है । उक्त तीनों अनुयोगोंके द्वारा जाने हुए सत्, संख्या और क्षेत्ररूप द्रव्योंके अतीतकालविशिष्ट वर्तमान स्पर्शका स्पर्शनानुयोग वर्णन करता है । पूर्वोक्त चारों अनुयोगोंके द्वारा जाने गये सत्, संख्या, क्षेत्र और स्पर्शरूप स्थितिका ज्ञान हो गया है उनके अन्तरकालका वर्णन अन्तरानुयोग करता है, उन्हींके भावोंका वर्णन भावानुयोग करता है और उन्हींके अल्पबहुत्वका वर्णन अल्पबहुत्वानुयोग करता है । कहा भी है-

कालो द्विदि-अवघाणं अंतरविरहो१ (१ मु. द्विदि-अवधरणं अंतरं विरहो ।) य सुण्ण-कालो य ।

भावो खलु परिणामो स-णाम-सिद्धं खु अप्पबहुं ॥१०३॥

प्रथमानुयोगस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमाह---

संतपरुवणदाए२ (२ संतंति विज्जमाणं एयस्स पयस्स जा परुवणया। गइयाइएसु वत्थुसु संतपयपरुवणा सा उ। जीवस्स च जं संतं जम्हा तं तेहिं तेसु वा पयति। तो संतस्स पयाइं ताइं तेसुं परु वणया।। वि. भा. ४०७-४०८.) दुविहो णिद्वेसो-ओघेण आदेसेण३ (३ संखेओ ओघो त्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा। वित्थारादेसो त्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा।। गो. जी. ३.) य ।।८।।
चतुर्दशजीवसमासानामित्यनुवर्तते, तेनैवमभिसम्बन्धः क्रियते चतुर्दशजीवसमासानां सत्प्ररुपणायामिति। सत्सत्त्वमित्यर्थः। कथम्? अन्तर्भावितभावत्वात्। प्ररुपणा निरुपणा प्रज्ञापनेति यावत्। चतुर्दशजीवसमाससत्त्वप्ररुपणायामित्यर्थः। सच्छब्दोऽस्ति शोभनवाचकः, यथा सदभिधानं सत्यमित्यादि। अस्ति अस्तित्ववाचकः,

अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाली प्ररुपणाको सत्प्ररुपणा कहते हैं। जिन पदार्थोंके अस्तित्वका ज्ञान हो गया है ऐसे पदार्थोंके परिमाणका कथन करनेवाली संख्याप्ररुपणा है। वर्तमान क्षेत्रका वर्णन करनेवाली क्षेत्रप्ररुपणा है। अतीतस्पर्श और वर्तमानस्पर्शका वर्णन करनेवाली स्पर्शनप्ररुपणा है। जिससे पदार्थोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका निश्चय हो उसे कालप्ररुपणा कहते हैं। जिसमें विरहरूप शून्यकालका कथन हो उसे अन्तरप्ररुपणा कहते हैं। जो पदार्थोंके परिणामोंका वर्णन करे वह भावप्ररुपणा है। तथा अल्पबहुत्वप्ररुपणा अपने नामसे ही सिद्ध है ।।१०२-१०३।।

अब पहले सद्नुयोगके स्वरूपका निरुपण करनेकेलिये सूत्र कहते हैं।

सत्प्ररुपणामें ओघ अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे और आदेश अर्थात् विशेषकी अपेक्षासे इस तरह दो प्रकारका कथन है ।।८।।

इस सूत्रमें 'चतुर्दशजीवसमासानाम्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये उस पदके साथ ऐसा संबन्ध कर लेना चाहिये कि 'चौदह जीवसमासोंकी सत्प्ररुपणामें'। यहां पर सत्का अर्थ सत्त्व है।

शंका --- यहां पर सत्का अर्थ सत्त्व करनेका क्या कारण है?

समाधान --- क्योंकि, सत्में भावरूप अर्थ अन्तर्भूत है, इसलिये यहां पर सत्का अर्थ सत्त्व लिया गया है।

प्ररुपणा, निरुपणा और प्रज्ञापना ये सब पर्यायवाची नाम हैं। इसलिये 'संतपरुवणदाए' इस पदका अर्थ यह हुआ कि चौदह जीवसमासोंके सत्त्वके निरुपण करनेमें। 'सत्' शब्द शोभन अर्थात् सुंदर अर्थका भी वाचक है। जैसे, सदभिधान अर्थात् शोभनरूप कथनको ---

सति सत्ये व्रतीत्यादि। अत्रास्तित्वाचको ग्राह्यः। निर्देशः प्ररुपणं विवरणं व्याख्यानमिति यावत्। स द्विविधो द्विप्रकारः - ओघेन आदेशेन च। ओघेन सामान्येनाभेदेन प्ररुपणमेकः। अपरः आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररुपणामिति। न च प्ररुपणायास्तृतीयः प्रकारोऽस्ति, सामान्यविशेषव्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात्। विशेषव्यतिरिक्तसामान्यभावादादेशप्ररुपणाया एव ओघावगतिः स्यादिति न द्विविधं व्याख्यानमिति चेन्न, संक्षेपविस्तररुचिद्रव्यपर्यायार्थिकसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्। जीवसमास इति किम्? जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासः। क्वासते? गुणेषु। के

सत्य कहते हैं। कहीं पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक भी पाया जाता है। जैसे, यह सत्यके अस्तित्व अर्थात् सद्भावमें व्रती है। इनमेंसे यहां पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक ही लेना चाहिये।

निर्देश, प्ररुपण विवरण और व्याख्यान ये सब पर्यायवाची नाम हैं। वह निर्देश ओघ और आदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है। ओघ, सामान्य या अभेदसे निरुपण करना पहली ओघप्ररुपणा है, और आदेश, भेद या विशेषरूपसे निरुपण करना दूसरी आदेश-प्ररुपणा है। इन दो प्रकारकी प्ररुपणाओंको छोडकर वस्तुके विवेचनका और कोई तीसरा प्रकार संभव नहीं है, क्योंकि, वस्तुमें सामान्य और विशेष धर्मको छोडकर और कोई तीसरा धर्म नहीं पाया जाता है।

शंका --- विशेषको छोडकर सामान्य स्वतन्त्र नहीं पाया जाता है, इसलिये आदेशप्ररुपणाके कथनसे ही सामान्यप्ररुपणाका ज्ञान हो जायगा। अतएव दो प्रकारका व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है?

समाधान --- यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि, जो संक्षेप-रुचिवाले शिष्य होते हैं वे द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्यप्ररुपणासे ही तत्त्वको जानना चाहते हैं। और जो विस्ताररुचिवाले होते हैं वे पर्यायार्थिक अर्थात् विशेषप्ररुपणाके द्वारा तत्त्वको समझना चाहते हैं, इसलिये इन दोनों प्रकारके प्राणियोंके अनुग्रहके लिये यहां पर दोनों प्रकारकी प्ररुपणाओंका कथन किया है।

शंका -- जीवसमास किसे कहते हैं?

समाधान -- जिसमें जीव भले प्रकार रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं उसे जीवसमास कहते हैं ।

शंका -- जीव कहां रहते हैं?

समाधान -- गुणोंमें जीव रहते हैं ।

शंका -- वे गुण कौनसे हैं?

समाधान --- औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये

गुणाः? औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः। अस्य गमनिका-
कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः, तेषामुपशमादौपशमिकः, क्षयात्क्षायिकः, तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो
गुणः क्षायोपशमिकः। कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशम मन्तरेणोत्पन्नः पारिणामिकः। गुणसहचरितत्वादात्मापि
गुणसंज्ञां प्रतिलभते । उक्तं च ---

जेहि दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहि ।

जीवा ते गुण-सण्णा णिद्धिद्धा सव्वदरिसीहि^१ (१ प्रा. पं. १, ३। गो. जी. ८. अनेन
गुणशब्दनिरुपक्तिप्रधानसूत्रेण मिथ्यात्वादयोऽयोगिकैर्लित्वपर्यन्ता जीवपरिणामाविशेषाः त एव
गुणस्थानानीति प्रतिपादितम् । जी. प्र. टी.) ॥१०४॥

ओघनिर्देशार्थमुत्तरसूत्रमाह---

ओघेण अत्थि मिच्छाङ्घी^२ (२ननु यदि मिथ्या दृष्टिस्ततः कथं तस्य गुणस्थानसंभवः। गुणा हि
ज्ञानादिरुपास्तत्कथं ते दृष्टौ विपर्यस्तायां भवेयुरिति? उच्यते, इह यद्यपि,
सर्वघातिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयोदयादर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिरुपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ता भवति,
तथापि काचिन्मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता, ततो निगोदावस्थायामपि
तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता भवति अन्यथऽजीवत्वप्रसंगात्। (अभि. रा. को.
(मिच्छाङ्घिगुणद्वाण)) ॥१॥

यथोद्देशस्तथा निर्देश' इति न्यायात् ओघाभिधानमन्तरेणापि ओघोऽवगम्यते

पांच प्रकारके गुण अर्थात् भाव हैं । इनका खुलासा इस प्रकार है-जो कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है उसे
औदयिक भाव कहते हैं । जो कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं । जो कर्मोंके
क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं । जो वर्तमान समयमें सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी

क्षयसे और अनागत कालमें उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके सदवस्थारूप उपशमसे उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जो कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षाके विना जीवके स्वभावमात्रसे उत्पन्न होता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। इन गुणोंके साहचर्यसे आत्मा भी गुणसंज्ञाको प्राप्त होता है। कहा भी है ---

दर्शनमोहनीय आदि कर्मोंके उदय, उपशम आदि अवस्थाओंके होने पर उत्पन्न हुए जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवोंको सर्वज्ञदेवने उसी गुणसंज्ञावाला कहा है ॥१०४॥

अब ओघ अर्थात् गुणस्थान प्ररूपणाका कथन करनेकेलिये आगेका सूत्र कहते हैं ---

सामान्यसे गुणस्थानकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव हैं ॥११॥

शंका --- 'उद्देशके अनुसार ही निर्देश होता है' इस न्यायके अनुसार 'ओघ' इस शब्दके विना भी 'ओघ' का ज्ञान हो ही जाता है, इसलिये उसका सूत्रमें फिरसे

तस्येह पुनरुच्चारणमनर्थकमिति न, तस्य दुर्मेधोजनानुग्रहार्थत्वात्। सर्वसत्त्वानुग्रहकारिणो हि जिनाः, नीरागत्वात्। सन्ति मिथ्यादृष्टयः। मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्तन्विनयसंशयाद्गानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्यादृष्टयः।

जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होंति णय-वादा।

जावदिया णय-वादा तावदिया चेव पर-समाया१ (१ गाथेयं पूर्वमपि ६७ गाथाङ्केन आगता।)

॥१०५॥

इति वाचनान्न मिथ्यात्वपञ्चकनियमोऽस्ति२ (२ एवं स्थूलांशाश्रयेण मिथ्यात्वस्य पञ्चविधत्वं कथितं सूक्ष्मांशाश्रयेणासंख्यातलोकमात्रविकल्पसंभवात् तत्र व्यवहारानुपपत्तेः। गो. जी., जी. प्र. टी. १५.), किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं पञ्चविधं मिथ्यात्वमिति। अथवा मिथ्या वितथं, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयः। उक्तं च ---

मिच्छन्तं वेयंतो जीवो विवरीय-दंसणो होई।

ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो३ (३ प्रा. पं. १, ६। गो. जी. १७.) ॥१०६॥

उच्चारण करना निष्प्रयोजन है?

समाधान --- ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अल्पबुद्धि या मूढजनोंके अनुग्रहके लिये सूत्रमें 'ओघ' शब्दका उल्लेख किया है। जिनदेव संपूर्ण प्राणियोंका अनुग्रह करनेवाले होते हैं, क्योंकि, वे वीतराग हैं।

'मिथ्यादृष्टि जीव हैं' यहा पर मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची नाम हैं। दृष्टि शब्दका अर्थ दर्शन या श्रध्दान है। इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवोंके विपरीत, एकान्त, विनय, संशय, और अज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्मके उदयसे हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।

जितने भी वचन-मार्ग हैं उतने ही नय-वाद अर्थात् नयके भेद होते हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही पर-समय (अनेकान्त बाह्य मत) होते हैं ॥१०५॥

इस वचनके अनुसार मिथ्यात्वके पांच ही भेद हैं यह कोई नियम नहीं समझना चाहिये, किन्तु मिथ्यात्व पांच प्रकारका है यह कहना उपलक्षणमात्र है। अथवा, मिथ्या शब्दका अर्थ वितथ और दृष्टि शब्दका अर्थ रुचि, श्रध्दा या प्रत्यय है। इसलिये जिन जीवोंकी रुचि असत्यमें होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। कहा भी है ---

मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वभावका अनुभव करनेवाला जीव विपरीत-श्रध्दावाला होता है। जिस प्रकार पित्तज्वरसे युक्त जीवको मधुर रस अच्छा मालूम ---

तं मिच्छन्तं जमसद्दहणं१ (१ मु. जहमसद्दहणं । प्रा. पं. १, ७.) तच्चाण होइ अत्थाणं ।

संसइदमभिग्गहियं अणभिग्गहिदं ति तं तिविहं ॥१०७॥

इदानीं द्वितीयगुणस्थाननिरूपणार्थं सूत्रमाह ---

सासनसम्माइद्धी२ (२ असनं क्षेपणं सम्यक्त्वविराधनं, तेन सह वर्तते यः स सासन इति निरुक्त्या सासन इत्याख्या यस्यासौ सासनाख्यः । गो. जी., मं. प्र., टी. १९.) ॥१०॥

आसादनं सम्यक्त्वविराधनम् सह आसादनेन वर्तत इति सासादनो । विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयाजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन३ (३ अयं औपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणं सादयति अपनयतीत्यासादनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् । पृषोदरादित्वाद्यशब्दलोपः, कृद्बहुलमिति कर्तर्यनट् । सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखफलदो

निःश्रेयसतरु बीजभूतः औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयमात्रेण उत्कर्षतः षड्भिरावलिकाभिरपगच्छतीति, ततः सह आसादनेन वर्तत इति सासादनः। X X X सास्वादनमिति वा पाठः। तत्र सह सम्यक्त्वलक्षणसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनः। यथा हि, भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वदनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति तथैषोऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्दहन् तद्रसमास्वादयति। ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्। अभि. रा. को. (सासण-सम्मद्धिगुणद्वाण) इति भण्यते। अथ स्यान्न मिथ्यादृष्टिरयं, मिथ्यात्वकर्मण उदयाभावात्, न सम्यग्दृष्टिः, सम्यग्रुचेरभावात्, न सम्यग्मिथ्यादृष्टि, उभयविषयरुचेरभावात्। न

नहीं होता है उसी प्रकार यथार्थ धर्म अच्छा मालूम नहीं होता है ॥१०६॥ जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे तत्त्वार्थके विषयमें अश्रद्धान उत्पन्न होता है, अथवा विपरीत श्रद्धान होता है, उसको मिथ्यात्व कहते हैं। उसके संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत इस प्रकार तीन भेद हैं ॥१०७॥

अब दूसरे गुणस्थानके कथन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं ---

सामान्यसे सासादनसम्यग्दृष्टि जीव हैं ॥१०॥

सम्यक्त्वकी विराधनाको आसादन कहते हैं। जो इस आसादनसे युक्त है उसे सासादन कहते हैं। किसी एक अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, किन्तु जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरूप परिणामोंको नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी मिथ्यात्व गुणस्थानके अभिमुख है उसे सासादन कहते हैं।

शंका -- सासादन गुणस्थानवाला जीव मिथ्यात्वकर्मका उदय नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टि नहीं है, समीचीन रुचिका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि भी नहीं है, तथा इन दोनोंको विषय करनेवाली सम्यग्मिथ्यात्वरूप रुचिका अभाव होनेसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है। इनके

च चतुर्थी दृष्टिरस्ति, सम्यगसम्यगुभयदृष्ट्यालम्बनवस्तुव्यतिरिक्तवस्त्वनुपलम्भात् १ (१ यदि तत्त्वरुचिस्तदा सम्यग्दृष्टिरेवासौ, यद्यतत्त्वरुचिस्तदा मिथ्यादृष्टिरेवासौ, यद्युभयरुचिस्तदा सम्यग्मिथ्यादृष्टिरेवासौ, यद्यनुभयरुचिस्तदा आत्माभावः स्यात्। गो. जी., मं. प्र. टी. १९.) ततोऽसन् एष गुण इति न,

विपरीताभिनिवेशतोऽसदृष्टित्वात्। तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वयं, नास्य सासादनव्यपदेश इति चेत्, न सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्धनन्ता-नुबन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः, किन्तु ---

अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि, समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टिके आलम्बनभूत वस्तुके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई नहीं जाती है। इसलिये सासादन गुणस्थान असत्स्वरूप ही है। अर्थात् सासादन नामका कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं मानना चाहिये?

समाधान -- ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानमें विपरीत अभिप्राय रहता है, इसलिये उसे असदृष्टि ही समझना चाहिये।

शंका -- यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये, सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रका प्रतिबन्ध करनेवाले अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थानमें पाया जाता है, इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किन्तु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहां नहीं पाया जाता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं, किन्तु सासादनासम्यग्दृष्टि कहते हैं।

विशेषार्थ --- विपरीताभिनिवेश दो प्रकारका होता है, अनन्तानुबन्धीजनित और मिथ्यात्वजनित। उनमेंसे दूसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धीजनित विपरीताभिनिवेश ही पाया जाता है, इसलिये इसे मिथ्यात्वगुणस्थानसे स्वतन्त्र गुणस्थान माना है।

(२ ननु सम्यग्दर्शनघातकस्यानंतानबंधिनः कथं दर्शनमोहत्वाभावः? इति चेत् न, तस्य चारित्रघातकतीव्रतमानुभागमहिम्ना चारित्रमोहत्वस्यैव युक्तत्वात्। तर्हि तस्मात् न सम्यग्दर्शनविनाशः? इति चेत्, अनन्तानुबंध्युदये सति षडावलिरुपस्तोककालव्यवधानेऽपि मिथ्यात्वकर्मोदयाभिमुख्ये सत्येव सम्यग्दर्शनविनाशसंभवात्। अतएव मिथ्यात्वोदयनिरपेक्षतया सासादनत्वं भवतीति पारिणामिकभावत्वमुक्तम्। परिणामः स्वभावः तस्माद्भवः पारिणामिक इति व्युत्पत्तेः। नन्वेवं कथमनन्तानुबंध्यन्यतमोदयान्नाशितसम्यक्त्व इत्युच्यते? इति चेत् न, मिथ्यात्वोदयाभिमुख्यसन्निहितस्य अनन्तानुबंध्युदयस्य सम्यग्दर्शनविनाशसंभवेन तदुदयात्तद्विनाश इति वचनाविरोधात्। किं बहुना

अनन्तानुबन्धिनः सम्यक्त्वविनाशसामर्थ्यशक्तिसंभवेऽपि मिथ्यात्वोदयाभिमुख्ये सत्येव तत्सामर्थ्यव्यक्तिरिति सिद्धो नः सिद्धान्तः । गो. जी., मं. प्र., टी. १९.)

सासादन इति व्यपदिश्यते । किमिति मिथ्यादृष्टिरिति न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनां व्दिस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात् । न च दर्शनमोहनीयस्योदयादुपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्धा सासादनपरिणामः प्राणिनामुपजायते येन मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्यते । यस्माच्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं, तस्य चारित्रावरणत्वात् । तस्योभयप्रतिबन्धकत्वाद्दुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात् । सूत्र तथाऽनुपदेशोऽप्यर्पितनयापेक्षः । विवक्षितदर्शन---

शंका -- पूर्वके कथनानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा क्यों नहीं दी गई है?

समाधान -- ऐसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र कहनेसे अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंकी व्दिस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है ।

विशेषार्थ -- सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माननेका फल जो अनन्तानुबन्धीकी व्दिस्वभावता बतलाई गई है, वह व्दिस्वभावता दो प्रकारसे हो सकती है । एक तो अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंकी प्रतिबन्धक मानी गई है, और यही उसकी व्दिस्वभावता है । इसी कथनकी पुष्टि यहां पर सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र मानकर की गई है । दूसरे, अनन्तानुबन्धी जिस प्रकार सम्यक्त्वके विघातमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम करती है, उसप्रकार वह मिथ्यात्वके उत्पादमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम नहीं करती है । इस प्रकारकी व्दिस्वभावताको सिद्ध करनेकेलिये सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माना है ।

दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे जीवोंके सासादनरूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है जिससे कि सासादन गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता । तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीयका भेद न होकर चारित्रका आवरण करनेवाला होनेसे चारित्रमोहनीयका भेद है । इसलिये दूसरे गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है ।

शंका -- अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक होनेसे उसे उभयरुप (सम्यक्त्वचारित्रमोहनीय) संज्ञा देना न्यायसंगत है?

समाधान -- यह आरोप ठीक नहीं, क्योंकि, यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानुबन्धीको सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है। फिर भी परमागममें मुख्य नयकी अपेक्षा इस तरहका उपदेश नहीं दिया है।

सासादन गुणस्थान विवक्षित कर्मके अर्थात् दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके विना उत्पन्न होता है, इसलिये वह पारिणामिक है। सासादन जो

मोहोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नत्वात्पारिणामिकः सासादनगुणः। सासादन-श्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिः। विपरीताभिनिवेशदूषितस्य तस्य कथं सम्यग्दृष्टित्वामिति चेन्न, भूतपूर्वगत्या तस्य तद्व्यपदेशोपपत्तेरिति। उक्तं च ---

सम्मत्त-रयण-पव्वय सिहरादो मिच्छ-भूमि-समभिमुहो।

णासिय-सम्मत्तो सो सासण-णामो मुणेयव्वो१ (१ प्रां. पं. १, ९। गो. जी. २०.)

॥१०८॥

व्यामिश्ररुचिगुणप्रतिपादनार्थं सूत्रमाह ----

सम्मामिच्छाङ्गी^२ (२ लब्धेनौपशमिकसम्यक्त्वेन औषधिविशेषकल्पेन मदनकोद्रवस्थानीयं मिथ्यात्वमोहनीयं। कर्म शोधयित्वा त्रिधा करोति, शुद्धमर्धशुद्धमविशुद्धं चेति। तत्र त्रयाणां पुञ्जानां मध्ये यदार्थविशुद्धः पुञ्ज उदेति तदा तदुदयाज्जीवस्यार्धविशुद्धं जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानं भवति, तेन तदासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमन्तर्मुहूर्तकालं स्पृशति। अभि. रा. को. (सम्मामिच्छादिद्विगुणद्वान्) ॥११॥

दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत्। समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः। अथ स्यादेकस्मिन् जीवे नाक्रमेण समीचीनासमीचीनादृष्ट्योरस्ति संभवः, विरोधात्। न क्रमेणापि, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणयोरेवान्तर्भावदिति। अक्रमेण

सम्यग्दृष्टि वह सासादनसम्यग्दृष्टि है।

शंका -- सासादन गुणस्थान विपरीत अभिप्रयासे दूषित है, इसलिये उसके सम्यग्दृष्टिपना कैसे बन सकता है?

समाधान --- नहीं, क्योंकि, पहले वह सम्यग्दृष्टि था, इसलिये भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा उसके सम्यग्दृष्टि संज्ञा बन जाती है। कहा भी है ---

सम्यग्दर्शनरूपी रत्नगिरिके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमिके अभिमुख है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है परंतु मिथ्यादर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई है, उसे सासन अर्थात् सासादनगुणस्थानवर्ती समझना चाहिये ॥१०८॥

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं ---

सामान्यसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव हैं ॥११॥

दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं। जिस जीवके समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकारकी दृष्टि होती है उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

शंका --- एक जीवमें एकसाथ सम्यक् और मिथ्यारूपदृष्टि संभव नहीं है, क्योंकि, इन दोनों दृष्टियोंका एक जीवमें एकसाथ रहनेमें विरोध आता है। यदि कहा जावे कि ये दोनों दृष्टियाँ क्रमसे एक जीवमें रहती हैं तो उनका सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नामके स्वतन्त्र

सम्यग्मिथ्यारुच्यात्मको जीवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति प्रतिजानीमहे। न विरोधोऽपि, अनेकान्ते आत्मनि भूयसां धर्माणां सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः। नात्मनोऽनेकान्तत्वमसिद्धम्, अनेकान्तमन्तरेण तस्यार्थक्रियाकर्तृत्वानुपपत्तेः। अस्त्वेकस्मिन्नात्मनि भूयसां सहावस्थान प्रत्यविरुद्धानां संभवो नाशेषाणामिति चेत्क एवमाह समस्तानामप्यवस्थितिरिति, चैतन्याचैतन्यभव्याभव्यादिधर्माणामप्यक्रमेणैकात्मन्यवस्थिति प्रसङ्गात्। किन्तु येषां धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित्त्वचिदक्रमेण तेषामस्तित्वं प्रतिजानीमहे। अस्ति चानयोः श्रद्धयोः क्रमेणैकस्मिन्नात्मनि संभवस्ततोऽक्रमेण तत्र कदाचित्तयोः संभवेन भवितव्यमिति। न चैतत्काल्पनिकं पूर्वस्वीकृतदेवतापरित्यागेनार्हन्नपि देव इत्यभिप्रायवतः पुरुषस्योपलम्भात् १ (१ यथा कस्यचित् मित्रं प्रति मित्रत्वं, चैत्रं प्रत्यमित्रत्वमित्युभयात्मकत्वमविरुद्धं लोके दृश्यते तथा कस्यचित्पुरुषस्य अर्हदादिश्रद्धानापेक्षया सम्यक्त्वं, अनाप्तादिश्रद्धानापेक्षया मिथ्यात्वं च युगपदेव विषयभेदेन संभवतीति सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वमविरुद्धमेव दृश्यते। गो. जी. म. प्र. टी. २२.) पंचसु

गुणस्थानोंमें ही अन्तर्भाव मानना चाहिये । इसलिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामका तीसरा गुणस्थान नहीं बनता है?

समाधान --- युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि है ऐसा मानते हैं । और ऐसा माननेमें विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि, आत्मा अनेक-धर्मात्मक है, इसलिये उसमें अनेक धर्मोंका सहानवस्थानलक्षण विरोध असिद्ध है । अर्थात् एक साथ अनेक धर्मोंके रहनेमें कोई बाधा नहीं आती है । यदि कहा जाय कि आत्मा अनेक धर्मात्मक है यह बात ही असिद्ध है । सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अनेकान्तकेविना उसकेअर्थक्रियाकारीपना नहीं बन सकता है ।

शंका -- जिन धर्मोंका एक आत्मामें एकसाथ रहनेमें विरोध नहीं है, वे रहें, परंतु संपूर्ण धर्म तो एकसाथ एक आत्मामें रह नहीं सकते हैं?

समाधान -- कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहना संभव है? यदि संपूर्ण धर्मोंका एकसाथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहनेका प्रसंग आ जायगा । इसलिये परस्पर विरोधी संपूर्ण धर्म एक आत्मामें रहते हैं, अनेकान्तका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये । किंतु अनेकान्तका यह अर्थ समझना चाहिये कि जिन धर्मोंका जिस आत्मामें अत्यन्त अभाव नहीं है वे धर्म उस आत्मामें किसी काल और किसी क्षेत्रकी अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं । इस प्रकार जब कि समीचीन और असमीचीनरूप इन दोनों श्रद्धाओंका क्रमसे एक आत्मामें रहना संभव है, तो कदाचित् किसी आत्मामें एकसाथ भी उन दोनोंका रहना बन सकता है । यह सब कथन काल्पनिक नहीं है, क्योंकि, पूर्व स्वीकृत अन्य देवताके अपरित्यागके साथ साथ अरिहंत भी देव है ऐसा अभिप्रायवाला पुरुष पाया जाता है ।

शंका --- पांच प्रकारके भावोंमेंसे तीसरे गुणस्थानमें कौनसा भाव है?

गुणेषु कोऽयं गुण इति चेत्क्षायोपशमिकः । कथं मिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपद्यमानस्य तावदुच्यते । तद्यथा- मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तस्यैव सत उदयाभावलक्षणोपशमात्सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्चोत्पद्यंत इति सम्यग्मिथ्यात्वगुणः क्षायोपशमिकः । सतापि सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन औदयिक इति किमिति न व्यपदिश्यत इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयादिव ततः१ (१ मु. दिवातः ।) सम्यक्त्वस्य निरन्वयविनाशानुपलम्भात् ।

सम्यग्दृष्टेर्निरन्वयविनाशाकारिणः सम्यग्मिथ्यात्वस्य कथं सर्वघातित्वामिति चेन्न, सम्यग्दृष्टेः साकल्यप्रतिबन्धितामपेक्ष्य तस्य तथोपदेशात् । मिथ्यात्वक्षयोपशमादिवानन्तानुबन्धिनामपि सर्वघातिस्पर्धकक्षयोपशमाज्जातमिति सम्यग्मिथ्यात्वं किमिति नोच्यत इति चेन्न तस्य चारित्रप्रतिबन्धक ---

समाधान -- तीसरे गुणस्थानमें क्षायोपशामिक भाव है ।

शंका -- मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके क्षायोपशामिक भाव कैसे संभव है?

समाधान -- वह इस प्रकार है, कि वर्तमान समयमें मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय होनेसे, सत्तामें रहनेवाले उसी मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है, इसलिये वह क्षायोपशामिक है ।

शंका -- तीसरे गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेसे वहां औदयिक भाव क्यों नहीं कहा है?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जिस प्रकार सम्यक्त्वका निरन्वय नाश होता है, उस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश नहीं पाया जाता है, इसलिये तीसरे गुणस्थानमें औदयिक भाव न कहकर क्षयोपशामिकभाव कहा है ।

शंका -- सम्यग्मिथ्यात्वका उदय सम्यग्दर्शनका निरन्वय विनाश तो करता नहीं है, फिर उसे सर्वघाती क्यों कहा?

समाधान -- ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि, वह सम्यग्दर्शनकी पूर्णताका प्रतिबन्ध करता है, इस अपेक्षासे सम्यग्मिथ्यात्वको सर्वघाती कहा है ।

शंका -- जिस तरह मिथ्यात्वके क्षयोपशमसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति बतलाई है उसी प्रकार वह अनन्तानुबन्धी कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयोपशमसे होता है, ऐसा क्यों नहीं कहा?

त्वात् । ये त्वनन्तानुबन्धिक्षयोपशमात्तदुत्पत्तिं १ (१ मु. मादुत्पत्तिं) प्रतिजानते तेषां सासादनगुण औदयिकः स्यात्, न चैवमनभ्युपगमात् । अथवा, सम्यक्त्वकर्मणो देशघातिस्पर्धकानामुदयक्षयेण तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमेन च सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयेन च सम्यग्मिथ्यात्वगुण उत्पद्यत

इति क्षायोपशमिकः। सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमेवमुच्यते बालजनव्युत्पादनार्थम् । वस्तुतस्तु सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणो निरन्वयेनाप्तागमपदार्थविषयरुचिहननं प्रत्यसमर्थस्योदयात्सदसदिषया श्रद्धोत्पद्यतः (२ मु. विषयश्रद्धो) इति क्षायोपशमिकः सम्यग्मिथ्यात्वगुणः। अन्यथोपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपन्ने सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमनुपपन्नम्, तत्र सम्यक्त्वमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुदयक्षयाभावात् । तत्रोदयाभावलक्षण उपशमोऽस्तीति चेन्न, तस्योपशमिकत्व -----

समाधान --- नहीं, क्योंकि, अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रका प्रतिबन्धक है, इसलिये यहां उसके क्षयोपशमसे तृतीय गुणस्थान नहीं कहा गया है।

जो अनन्तानुबन्धी कर्मके क्षयोपशमसे तीसरे गुणस्थानकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके मतसे सासादन गुणस्थानको औदयिक मानना पड़ेगा। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि, दूसरे गुणस्थानको औदयिक नहीं माना गया है।

अथवा, सम्यक्प्रकृतिकर्मके देशघाती स्पर्धकोंका उदयक्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकोंका उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये वह क्षायोपशमिक है। यहां इस तरह जो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको क्षायोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्त के पाठका प्रारम्भ करनेवालोंके परिज्ञान करानेके लिये ही कहा है। वास्तवमें तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वयरूपसे आप्त, आगम और पदार्थ-विषयक श्रद्धाके नाश करनेके प्रति असमर्थ हैं, किन्तु उसके उदयसे सत्-समीचीन और असत्-असमीचीन पदार्थको युगपत् विषय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है। यदि इस गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे सत् और असत् पदार्थको विषय करनेवाली मिश्र रुचिरूप क्षयोपशमता न मानी जावे तो उपशमसम्यग्दृष्टिके सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होने पर उस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें क्षयोपशमपना नहीं बन सकता है, क्योंकि, उपशम सम्यक्त्वसे तृतीय गुणस्थानमें आये हुए जीवके ऐसी अवस्थामें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता है।

शंका -- उपशम सम्यक्त्वसे आये हुए जीवके तृतीय गुणस्थानमें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावरूप उपशम तो पाया जाता है?

www.jainworld.com

समाधान -- नहीं, क्योंकि, इस तरह तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव मानना पड़ेगा ।